संस्कृत रागकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत]

शोध-प्रबन्ध

✲

प्रस्तुतकर्त्री

ज्योति सहगल

✲

निर्देशिका

डॉ० मृदुला त्रिपाठी

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

✲

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९८६

विषयानुक्रमणिका

<u>पृष्ठ संख्या</u>

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

-०-

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध अपने लगभग दो वर्षों के श्रम एवं उत्साह का प्रतिफल है । आरम्भ से ही साहित्यिक अभिरुचि होने के कारण स्नातकोत्तर उत्तरार्द्ध परीक्षा में साहित्य वर्ग का ही मैंने विशिष्ट अध्ययन विषय के रूप में चयन किया था, यही नहीं मेरी साहित्यिक अभिरुचि के साथ-साथ संगीत के प्रति भी अत्यधिक रुचि थी, यही कारण है कि साहित्य एवं संगीत के प्रति अत्यधिक अभिरुचि होने के कारण सौभाग्य से मुझे 'संस्कृत राग-काव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन' इस मनोनुकूल विषय पर शोध कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ ।

साहित्य और संगीत का अपूर्व समन्वय होने के कारण मेरी प्रस्तुत शोधकार्य करने में सहज अभिरुचि उत्पन्न हुई, यह रुचि इस विषय पर शोध करते समय आदि से अन्त तक बनी रही है तथा इस विषय के अध्ययन एवं चिन्तन की प्रक्रिया में सदा एक आत्मिक आनन्द एवं उत्साह की अनुभूति होती रही है । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के सन्दर्भ में यह उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि भारतीय संगीत का बीजारोपण वेदकाल में हुआ था । वैदिक ऋषियों को भी संगीत का अच्छा ज्ञान था । गेयपदों के समान वैदिक मंत्रों में भी पदवृत्ति पायी जाती है । मंत्रों को पढ़ने के लिये उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित इन तीन स्वरों का प्रयोग किया जाता था । ऋग्वेद की तुलना में सामवेद के मंत्रों में संगीततत्त्व अधिक है । अतः यह कहा जा सकता है कि वेदकाल में निरूपित संगीत ने समयानुसार संगीत के शास्त्रीय रूप को ग्रहण किया, यही कारण है कि संस्कृत भाषा में इस विषय पर भी विद्वानों ने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं । इन ग्रन्थों में शाङ्र्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' महाराणा कुम्भा का 'संगीतराज' आदि ग्रन्थ लोकप्रिय हैं । भारतीय शास्त्रीय संगीत-साहित्य

की इस पद्धति का संस्कृत के रागकाव्यों में पूर्ण रूप से निर्वाह हुआ है, यही कारण है कि संस्कृत के रागकाव्यों में भारतीय शास्त्रीय संगीत-साहित्य की भागीरथी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई है ।

'संस्कृत रागकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन' इस शोधप्रबन्ध के अन्तर्गत रागकाव्य इस विधा का सम्यक् विवेचन करने का प्रयास किया गया है । रागकाव्य इस विधा के सन्दर्भ में जयदेव के गीतगोविन्द को संस्कृत साहित्य का प्रमुख रागकाव्य माना गया है, तथा इसके अतिरिक्त जयदेव के प्रमुख रागकाव्य गीतगोविन्द पर आधारित अन्य रागकाव्य भी लिखे गये हैं, यही कारण है कि गीतगोविन्द सभी रागकाव्यों का प्रेरणा-स्रोत है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मेरे सीमित ज्ञान एवं सामर्थ्यानुसार विवेचित है । इसके सम्पन्न होने में समय-समय पर अपने गुरुजनों का मार्गदर्शन तथा शुभेच्छुओं का सहयोग मिलता रहा है । इस सन्दर्भ में मैं सर्वप्रथम अपनी गुरुवर्या डा० मृदुला त्रिपाठी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूँ, जिनकी प्रेरणा से ही इस विषय में मेरी रुचि जागृत हुयी तथा जिनके निर्देशन में ही यह कार्य सम्पन्न हो सका, यही नहीं जिस सक्रियता एवं सत्प्रेरणा के साथ अहर्निश, निरलस रहकर मुझे को निर्देशन दिया उसके लिये मैं पौनः पुन्येन आभार व्यक्त करती हूं । डा० प्रभात शास्त्री के प्रति मैं विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूं जिन्होंने अनेकबार कई विषयों पर अपना अमूल्य सुझाव देकर मेरा मार्ग प्रशस्त किया है, तथा इसके अतिरिक्त अपने समस्त विभागीय गुरुजनों, परिवारी जनों, समस्त स्निग्ध सहयोगियों एवं सुहृदों, जिनके आशीर्वादों शुभकामनाओं एवं प्रेरणाओं का सम्बल इस काल में मुझे मिलता रहा है, उन सब की मैं हृदय से आभारी हूं जिन्होंने समय-समय पर सत्प्रेरणा प्रदान कर मुझे कृतार्थ किया था, यही कारण है कि उन सब के प्रति मैं अपना हार्दिक नमन एवं कृतज्ञता ज्ञापन करती हूं । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के लिखने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि पुस्तकालयों तथा उनके अधिकारियों के प्रति मैं अपनी

कृतज्ञता व्यक्त करती हूं, जिनके सहयोग से मुझे अनेकश: विभिन्न ग्रन्थों एवं लेखों की उपलब्धि होती रही है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के कुशल टंकण हेतु श्री श्यामलाल तिवारी को भी मैं धन्यवाद देती हूं जिन्होंने सावधानी के साथ दत्तचित्त होकर शोधप्रबन्ध के टंकण का कार्य किया, किन्तु फिर भी टाइप प्रक्रिया में यन्त्रगत विवशता के कारण जो कुछ अशुद्धियां रह गयी हों उनके लिये मैं भूयोभय: क्षमाप्रार्थी हूं । यही नहीं शोधप्रबन्ध सम्बन्धी आन्तर एवं बाह्य उभयविध त्रुटियों के लिये मैं विनम्र भाव से क्षमाप्रार्थी हूं ।

इस प्रकार इन दो वर्षों में अपने शोधप्रबन्ध को पूर्ण करने में रात-दिन जितना परिश्रम मैंने किया है, सम्भवत: भावी जीवन में उतना कभी न कर पाऊंगी । अत: मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस प्रबन्ध को लिखकर अब मैं अपने गन्तव्य स्थान को पहुंच गयी हूं अतएव यदि इसमें विद्वद्वर्ग को मेरा अध्यवसाय सार्थक प्रतीत हुआ तो समझूंगी कि मेरा प्रयत्न वास्तव में सफल रहा । इस प्रकार इन शब्दों के साथ प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को "मां भारती" के श्रीचरणों में समर्पित करती हूं ।

विनयावत,

(ज्योति सहगल)

प्रथम अध्याय

संस्कृत रागकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन

काव्य भेद :- खण्डकाव्य, गीतिकाव्य और रागकाव्य के रूप में काव्य का विकास

(क) संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य का विभाजन

(अ) दृश्यकाव्य

(ब) श्रव्यकाव्य

(१) श्रव्यकाव्य के भेद — गद्य, पद्य तथा चम्पू

(२) पद्यकाव्य के भेद —

(i) प्रबन्ध

(ii) मुक्तक

(३) प्रबन्धकाव्य के भेद -- महाकाव्य तथा खण्डकाव्य

(ख) खण्डकाव्य का स्वरूप

(ग) संस्कृत के खण्डकाव्यों का वैशिष्ट्य

(घ) गीतिकाव्यों का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य -

(१) भारतीय मत

(२) पाश्चात्य मत

(ङ०) गीतिकाव्यों का उद्भव एवं विकास

(च) संस्कृत काव्यशास्त्र में गीतिकाव्य विषयक अनुल्लेख और उसका कारण

(छ) गीतिकाव्य की परम्परा

(ज) रागकाव्य का स्वरूप एवं आधार

काव्यभेद — खण्डकाव्य, गीतिकाव्य और रागकाव्य के रूप में काव्य का विकास

साहित्य एवं संगीत दोनों ही भाव का प्रकाशन करते हैं । भाव का प्रकाशन कविता शब्दों के माध्यम से करती है, जबकि संगीत नाद अथवा स्वरों का आश्रय लेता है । दोनों के मार्ग भिन्न हैं, किन्तु लक्ष्य समान है । दोनों का लक्ष्य है, आनन्द की अनुभूति । संगीत में राग एक ऐसा विधान है, जिसके द्वारा प्रत्येक रस के विशिष्ट भावों का प्रकाशन किया जाता है । सारांश में कह सकते हैं कि संगीतकला काव्यकला की परिपोषिका है । इस प्रकार संगीत साहित्य के लिये उतना ही उपयोगी तथा आनन्ददायी है, जितनी धरातल के लिये कुसुमावली और गगनतल के लिये आलोकमाला । `सत्यं शिवं सुन्दरम्` की जितनी कोमल और मधुर अभिव्यक्ति संगीत से होती है, उतनी अन्यत्र नहीं, इस दृष्टि से संस्कृत का राग-काव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है । प्रारम्भ से ही संगीत साहित्य का सहयोगी रहा है अत: यही कारण है कि रागकाव्यों की यह गुण-समृद्धि दीर्घकालीन विकास-परम्परा का परिणाम है । राघवविजय और माारीचवध रागकाव्य वह हरिद्वार है, जिसमें शीतल रस का अथाह प्रवाह, पदतरङ्गों की सुन्दर, संगीत-ध्वनि से समृद्ध है और जयदेव का गीतगोविन्द वह तीर्थराज है जहां शृङ्गार तथा भक्ति की गंगा-यमुना का लोकविश्रुत पदशैली की अन्त:सलिला सरस्वती से अभूतपूर्व सङ्गम होता है, यह एक ऐसा सङ्गम है जहां `पद पद होतु प्रयागु` सार्थक प्रतीत होता है ।

संस्कृत के रागकाव्यों में कहीं प्रेम की मन्दाकिनी बह रही है, तो कहीं करुणरस की फल्गुधारा, कहीं यौवन के उल्लासमय संगीत हैं, तो कहीं विरह के मर्मोच्छ्वास । इस प्रकार वैभव, विलास और कल्पना के अनेकानेक रंगों से चित्रित प्रेमभावना के चित्रों से संस्कृत रागकाव्य भरा पड़ा है ।

इस प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में संस्कृत काव्य-धारा की रागकाव्य रूपी इस नवीन तरङ्ग का यथासम्भव अवगाहन करने का प्रयास किया गया है ।

क - संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य का विभाजन —

संस्कृत में काव्य की विस्तृत एवं गम्भीर मीमांसा काव्यशास्त्र के अन्तर्गत हुई है, जिसमें काव्य की उत्पत्ति एवं लक्षण, काव्य के विभिन्न रूप तथा उसका विभाजन, विभिन्न प्रकार के कवि और उनके लक्षण, अलंकार, रस, गुण-दोष, उद्देश्य तथा सिद्धान्त आदि सभी अंगों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है।

संस्कृत में भरत का 'नाट्यशास्त्र' प्राचीनतम लक्षण ग्रन्थ माना जाता है। इसके पश्चात् भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का अलंकारसारसंग्रह, वामन का अलंकारसूत्र, रुद्रट का काव्यालंकार, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर की काव्यमीमांसा, कुन्तक का वक्रोक्तिजीवित, धनञ्जय का दशरूपक, भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण, मम्मट का काव्यप्रकाश, रुय्यक का अलंकारसर्वस्व, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण आदि काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की परम्परा प्राप्त होती है।

भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में सर्वप्रथम नाटक का विवेचन करते हुए कहा है—

'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्'[१]

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्य और श्रव्य क्रीडनीयक (मनोरंजन) की आकांक्षा में नाट्यकला की भावना ही सन्निहित है, क्योंकि नाटक ही कार्य-प्रधान तथा देखने सुनने योग्य होता है।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि हैं, और उनके नाट्यशास्त्र में दृश्य और श्रव्य रूप में जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसी को आधार मानकर अन्य आचार्यों ने भी काव्य विभाजन प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में उपर्युक्त

१- नाट्यशास्त्र - प्रथम अध्याय, पृष्ठ संख्या ३, श्लोक संख्या ११।

आचार्यों में से कुछ आचार्य ही विवेचनीय हैं, जिन्होंने काव्य के रूप एवं उसके वर्गीकरण पर अधिक विस्तार से विचार किया है। इसमें सर्वप्रथम भामह, दण्डी तथा आचार्य विश्वनाथ उल्लेखनीय हैं। अतएव उनके विवेचन के आधार पर काव्य विभाजन द्रष्टव्य है।

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में काव्यविभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है[१] —

> गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ।
> पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।।
> छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः ।
> सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गभीरं काव्यसागरम् ।।
> मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः ।
> सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ।।

दण्डी के अनुसार काव्य तीन प्रकार का होता है — गद्य, पद्य और मिश्र। गद्य उसे कहते हैं जिसे हम स्वभावतः बोलते हैं। आचार्य दण्डी ने 'पद्यं चतुष्पदी' कहा है। यह पद्य प्रायः चार चरणों का होता है। पद्य के दो प्रकार होते हैं — वृत्त एवं जाति। अक्षर संख्यांत चरण को वृत्त तथा मात्रा संख्यांत चरण को जाति कहते हैं। मिश्र शब्द से गद्यपद्यमय मिश्रण विवक्षित है। नाटक-चम्पू आदि इसके प्रभेद में आते हैं। वृत्तजाति आदि छन्दों का 'छन्दोविचिति' नामक छन्दो ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। मुक्तक, कुलक, कोष, संघात आदि पद्य विस्तार का इस ग्रन्थ में विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है, क्योंकि ये सभी सर्गबन्धात्मक महाकाव्य के अङ्गभूत हैं। इसमें मुक्तक तथा कुलक साक्षाद् अङ्ग हैं और कोष तथा संघात तद्वर्णन में अङ्ग हो जाया करते हैं।

१- काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद, श्लोक ११, १२, १३, पृष्ठ संख्या १४, १५।

आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में काव्यविभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है[1] -

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा ।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुन: पञ्चधोच्यते ॥
अनिबद्धञ्च पुनर्गाथा श्लोकमात्रादि तत्पुन: ।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥

आचार्य भामह के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं । उनके अनुसार काव्य के दो भेद होते हैं —गद्य और पद्य । संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश उसके तीन प्रकार हैं । इस वर्गीकरण का प्रथम आधार है, रचना में छन्द का सद्भाव और अभाव का होना । यदि रचना में छन्द का अभाव रहता है तो गद्य तथा सद्भाव रहता है तो पद्य होता है । इसका दूसरा आधार भाषा का है, क्योंकि उस युग में काव्य रचना की तीन भाषाएं प्रचलित थीं -- संस्कृत,प्राकृत और अपभ्रंश । कवि इन भाषाओं में से किसी भी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना सकता था । तत्पश्चात उसके ५ प्रकार माने जाते हैं —

१- सर्गबन्ध (महाकाव्य)
२- अभिनेय (नाटक आदि रूपक)
३- आख्यायिका
४- कथा
५- अनिबद्ध पूर्वापर सम्बन्ध-रहित अर्थात मुक्तक

इस प्रकार गाथा और श्लोकमात्र को अनिबद्ध कहते हैं । इन सभी पूर्व निरूपित काव्यभेद को वक्रोक्ति और स्वाभावोक्ति से युक्त होना चाहिये ।

इस प्रकार 'काव्यालंकार' के प्रणेता भामह और काव्यादर्श के

१- काव्यालंकार —श्लोक १६, १८, ३०, पृष्ठ संख्या ६, १०, १६,
प्रथम परिच्छेद ।

प्रणेता दण्डी ने जो काव्य विभाजन प्रस्तुत किया है, उससे कहीं अधिक स्पष्ट काव्यभेद "साहित्यदर्पण" के आचार्य विश्वनाथ ने किया है । उनका यह काव्यभेद उचित तथा सर्वमान्य भी है । "साहित्यदर्पण" के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ ने "नाट्यशास्त्र" और "दशरूपक" को आधार मानकर अपने साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में काव्यभेद का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है ।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में काव्य-भेद इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

"दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।"[1]

आशय यह है कि साहित्यदर्पणकार के अनुसार काव्य के दृश्य और श्रव्य यह दो भेद माने जाते हैं ।

(अ) दृश्यकाव्य -

दर्पणकार के अनुसार काव्य का प्रथम भेद दृश्य है, उसका निरूपण इस प्रकार है -

"दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ।"[2]

आशय यह है कि दृश्यकाव्य वे होते हैं, जिनका अभिनय किया जाता है । इसी दृश्यकाव्य को रूपक भी कहते हैं । वे उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि नट अभिनेता में रामादिक (नाटक के पात्रों का) स्वरूप आरोपित किया जाता है । नट राम, सीता, लक्ष्मण आदि का रूप धारण करता है । और सामाजिकों में "अयं रामः" इत्यादिक आरोपात्मक ज्ञान होता है । अतएव रूप का आरोप होने के कारण इस दृश्यकाव्य को रूपक भी कहते हैं ।

१- साहित्यदर्पण - षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० १७० ।

२- साहित्यदर्पण - षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० १७० ।

(ख) श्रव्यकाव्य -

साहित्यदर्पणकार के अनुसार काव्य का दूसरा भेद श्रव्य है, उसका निरूपण इस प्रकार है—

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ।[1]

तात्पर्य यह है कि श्रव्यकाव्य वे होते हैं, जो केवल सुने जा सकें तथा जिनका अभिनय न हो सके, वे श्रव्यकाव्य होते हैं । यह श्रव्यकाव्य दो प्रकार के होते हैं—

(१) श्रव्यकाव्य के भेद—

साहित्यदर्पणकार के अनुसार श्रव्यकाव्य के दो भेद होते हैं -

क- गद्य

ख- पद्य

तात्पर्य यह है कि मानव जीवन में दैनिक विचार-विनिमय के लिये भाषा के प्रयोग की जिस शैली को ग्रहण करना पड़ता है, उसे गद्य कहते हैं । दण्डी के अनुसार पदसन्तान रहित वाक्य विन्यास को गद्य कहते हैं ।[2] इसी प्रकार साहित्य-दर्पणकार के अनुसार छन्दों में लिखे काव्यों को पद्य कहते हैं ।[3] यदि वह मुक्त अर्थात दूसरे पद्य से निरपेक्ष होता है, तो मुक्तक कहलाता है ।[4] और यदि दो श्लोकों में वाक्यपूर्ति होती है, तो युग्मक कहलाता है । उनके अनुसार तीन पद्यों का सन्दानितक अथवा विशेषक, चार का कलापक और पांच अथवा इससे अधिक

१- साहित्यदर्पण - षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० २२४ ।

२- 'अपादः पदसन्तानो गद्यम्' — काव्यादर्श - प्रथमपरिच्छेद, कारिका २३, पृ० सं० २४ ।

३- छन्दोबद्धपदं पद्यं— साहित्यदर्पण - षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० २२४ ।

४- तेन मुक्तेन मुक्तकम् — साहित्यदर्पण - षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० २२४ ।

का कुलक होता है।[1]

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने गद्य पद्य के अतिरिक्त चम्पू नाम का एक काव्य-भेद और माना है।

ग- चम्पू --

दर्पणकार के अनुसार चम्पू का लक्षण इस प्रकार है--

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।[2]

आशय यह है कि जिस काव्य में गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण होता है, उस काव्य को चम्पू कहते हैं।

इस प्रकार साहित्यदर्पण के प्रणेता विश्वनाथ के अनुसार गद्य, पद्य तथा चम्पू यह काव्य के तीन भेद होते हैं। उनकी यह परिभाषा अत्यन्त संक्षिप्त एवं व्यापक रूप से मान्य है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध 'संस्कृत के रामकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन' में पद्य-काव्य ही अध्ययन का विषय है। इसलिये अधुना श्रव्यकाव्यान्तर्गत पद्यात्मक काव्य के भेद विचारणीय है, तथा उनकी विभाजन शृंखला का विस्तार से वर्णन करना प्रासङ्गिक है।

(२) पद्यकाव्य के भेद --

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार श्रव्यकाव्य के गद्य और पद्य यह दो भेद सुविवेचित किये जा चुके हैं। यह पद्यकाव्य श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत

१- द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्॥
-- साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० सं० २२४।

२- साहित्यदर्पण - षष्ठ परिच्छेद, पृ० सं० २२७।

जाता है। इनके अनुसार पद्यात्मक काव्य के प्रबन्ध और मुक्तक यह दो भेद माने गये हैं। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में स्पष्ट शब्दों में काव्य के विषयानुसार प्रबन्ध और मुक्तक यह दो भेद किये हैं।[१]

(i) प्रबन्ध —

प्रबन्ध का अर्थ है जो बन्ध सहित हो, अर्थात् जिस काव्य में शृंखलाबद्ध रूप में किसी का वर्णन होता है, उसे प्रबन्ध काव्य कहते हैं। यह बन्ध शब्द किसी कथा की अपेक्षा करता है। अत: इस प्रकार के काव्य में कोई प्रचलित अथवा अप्रचलित या काल्पनिक कथा का वर्णन शृंखलाबद्ध रूप में आद्यन्त होता है। प्रबन्धकाव्य में उसकी कथाएं आपस में उसी प्रकार संबद्ध होती हैं, जिस प्रकार शृंखला की एक-एक कड़ी एक दूसरे को मिलाये हुए रहती है, प्रबन्ध-काव्य की विशेषता इसी में होती है कि उसकी एक घटना दूसरी घटना से सम्बन्धित हो, किसी कथा की अन्यान्य घटनाओं को बिना पूर्वापर सम्बन्ध के प्रबन्ध में रख देने मात्र से ही कवि का कौशल नहीं होता, प्रत्युत वे अपनी क्रमबद्धता में ही प्रबन्ध कहलाने की क्षमता रखती है। आशय यह है कि प्रबन्धकाव्य पूर्वापर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होता है। एक कड़ी के टूटने पर सम्पूर्ण शृंखला खंडित हो जाती है, ठीक उसी भांति एक छोटी-सी घटना के छूट जाने पर सम्पूर्ण प्रबन्ध की धारा बिखर जाती है, और उसका रस फीका पड़ जाता है। प्रत्येक घटना को दूसरी घटना का अवलम्ब लेना अपेक्षित होता है। जब तक दूसरी घटना आकर उसे अपना अवलम्ब नहीं दे देती तब तक कथा का प्रवाह आगे की ओर नहीं बढ़ता है। कथा के प्रवाह को अग्रगामी करने के लिये प्रबन्ध में क्रमबद्ध रूप से घटनाएं एक के बाद एक आती ही जाती हैं। प्रबन्धकाव्य को इच्छानुसार कहीं से भी आरम्भ कर देने पर सम्पूर्ण कथा को समझने एवं उसका रसास्वादन करने में कठिनाई होती है, यही कारण है कि उत्तरार्ध की कथा को पढ़कर चाहे किसी अनिश्चित निष्कर्ष पर भले ही पहुंच जाय, किन्तु तब तक सम्पूर्ण कथा का भाव एवं रस नहीं मिल सकता,

---

१- "स पुनर्द्विधा मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन"।

(काव्यमीमांसा - नवम अध्याय, पृ० सं० १२३

जब तक हम कथा को आद्यन्त न पढ़ें । आशय यह है कि प्रबन्धकाव्य में कोई कथा अवश्य रहती है, और वह वर्णनात्मक अधिक होता है । उसके भीतर भावात्मक स्थल न हों ऐसी बात नहीं होती है । वास्तव में प्रबन्धकाव्य के रचयिता के पास तो पूरी वनस्थली बिखरी पड़ी रहती है । उसमें वह स्वच्छन्द रूप से विचरण कर, कहीं सरस सरोवर बना सकता है तो कहीं सुन्दर रंगबिरंगे पुष्प से उसे संजो सकता है । आशय यह है कि प्रबन्ध के विस्तृत क्षेत्र में कवि के लिये रसपरिपाक का समुचित समय एवं परिस्थितियां आकर उपस्थित होती हैं, जिनके सहारे वह वर्णनात्मक रूप में भावाभिव्यञ्जना करता है ।

प्रबन्ध काव्य विषयप्रधान होता है । उसकी यह विषय प्रधानता उसमें वर्णनात्मक तत्व को अधिक ला देती है कवि वस्तु वर्णन निरपेक्ष होकर करता है । उसका निजी व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप में कहीं भी नहीं झलकता है, वह जो कुछ भी कहता है कथा के पात्रों द्वारा अथवा वर्णनात्मक शैली में कहता है । प्रबन्ध में कवि की दृष्टि संसार की ओर उन्मुख रहती है और वह अपनी अभिव्यञ्जना में उसी बाह्य संसार की बातों को बड़े ही क्रमबद्ध रूप में संजोता है । घटनाओं के अनुरूप कवि कथा को कई भागों में विभाजित भी कर देता है । इस विभाजन को अधिकतर सर्ग का नाम दिया गया है । प्रबन्ध काव्य में कुछ भेदों में इसकी अवस्थिति अत्यन्त आवश्यक समझी जाती है, और उनकी सङ्ख्या भी नियत कर दी गयी है । जैसे - महाकाव्य जब भी होगा सर्गबद्ध ही होगा और उसमें कम से कम आठ सर्ग होंगे ।

प्रबन्ध-काव्य का प्रथम भेद यह है जिसमें कवि अपना एक आदर्श लेकर जीवन के सम्पूर्ण अंगों का सर्गबद्ध रूप में वर्णन करता है । इसमें युग का कोई नवीन संदेश अवश्य दिया जाता है, इसे महाकाव्य कहते हैं ।

प्रबन्धकाव्य का द्वितीय भेद वह है जहां कवि जीवन के किसी एक खंड या अंश को लेकर उसका क्रमबद्ध रूप में वर्णन करता है, इसे खण्डकाव्य कहते हैं ।

(ii) <u>मुक्तककाव्य</u> —

अग्निपुराण में मुक्तक काव्य का लक्षण इस प्रकार

किया है —

मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमं सताम्[1]

अर्थात मुक्तक वह काव्य है जिसका प्रत्येक श्लोक स्वतन्त्र रूप से अपने सर्वाङ्गीण अर्थ प्रकाशन में पूर्ण समर्थ होकर सहृदयों के हृदय में चमत्कार का आधायक होता है, इसके एक पद्य का दूसरे पद्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार मुक्तक से अभिप्राय उस काव्य से है, जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है, इसके समझने के लिये बाहरी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। संस्कृत के मुक्तक उन रसभरे मोदकों के सदृश है, जिनके आस्वादन मात्र से सहृदयों का हृदय स्वः परितृप्त हो जाता है, जो आलोचक रस की पुष्टि के लिये प्रबन्ध काव्य को ही उत्तम साधन समझते हैं, उन्हें आनन्दवर्धन की यह उक्ति विस्मृत नहीं करनी चाहिए।

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु इव रसबन्धनाभिनिवेशिन: कवयो दृश्यन्ते[2]

इस प्रकार मुक्तक काव्य के सुन्दर मोहक उदाहरण अमरुक के शतक हैं।

मुक्तक शब्द मुच् धातु से क्त प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है।[3] भूतकाल एवं फलाश्रय के समानाधिकरण विशेषण का प्रत्यायन कराता है।[4] इस प्रकार मुक्त शब्द विशेषण का कार्य करता है जिसका अर्थ है छोड़ा हुआ अथवा स्वतन्त्र। मुक्त शब्द से संज्ञार्थ में[5] अथवा ह्रस्वार्थ[6] में कन् प्रत्यय होने पर मुक्तक

१- अग्निपुराण - द्वितीय खण्ड, श्लोक संख्या ३६, पृ० सं० ३६८।

२- ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत, पृ० सं० ३२५।

३- तयोरेव कृत्य- क्त - खलर्था: - वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी `उत्तरार्द्ध`, ३।४।७० पृ० सं० ४४३।

४- निष्ठा - वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी `उत्तरार्द्ध`, ३।२।१०२, पृ० सं० ४९१।

५- संज्ञायाम् कन् - वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी `पूर्वार्द्ध` ५।३।८७, पृ०सं० ६०२।

६- ह्रस्वे - वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी `पूर्वार्द्ध` ५।३।८६, पृ० सं० ६०२।

शब्द बनता है । इस प्रकार मुक्तक का अर्थ होता है - मुच्यते इति मुक्तम् तदेव ह्रस्वं द्रव्यं मुक्तकम् । अर्थात् अधुकलेवर मुक्त पदार्थ मुक्तक कहलाता है ।

काव्य के मुक्तक वर्ग में ऐसे काव्य रूप आते हैं जो पद्यान्तर निरपेक्ष होते हैं, और जिनमें किसी कथा का आधार लेकर कवि नहीं रचता है । प्रबन्ध की एक-एक पंक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध रहती है । किन्तु मुक्तक काव्य में एक पद दूसरे की आकांक्षा नहीं करता है, मुक्तक काव्य में प्रत्येक पद अपने में स्वत: पूर्ण होते हैं, और उनमें स्वत: अर्थद्योतन की शक्ति होती है । मुक्तक काव्य की यह विशेषता इस कारण होती है कि उसमें जीवन की अनुभूतियों का आश्रय लेकर दृश्य-विधान या भाव-व्यंजना तो की जाती है परन्तु कोई वृत्त लेकर उसका विस्तृत वर्णन कवि नहीं करता है, यही कारण है कि मुक्तक काव्य वर्णनात्मक न होकर भावात्मक या आत्माभिव्यंजक होते हैं । जब मुक्तक काव्य का एक-एक पद अपने में आत्मपर्यवसित होता है तब कवि को रसव्यंजना अथवा भावव्यंजना में बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है, क्योंकि मुक्तक काव्य में विस्तृत क्षेत्र तो नहीं रहता है जिसमें परिस्थितियां स्वत: आकर उपस्थित होती चली जाय, वरन् यहां तो उसी सीमित घेरे में कल्पना द्वारा कवि को ऐसा प्रभाव उत्पन्न करना पड़ता है जो पाठक को किसी विशिष्ट इतिवृत्त के अभाव में भी आकृष्ट कर सके । यही कारण है कि काव्य के ऐसे वर्ग में आने वाले रूपों को कहां से उठाकर चाहे हम पढ़ सकते हैं और पूर्ण रसास्वादन भी हो सकता है ।

प्रबन्धकाव्य के विस्तृत क्षेत्र में यदि दो चार साधारण से स्थल आ जाते है, तो उसकी प्रभावात्मकता नष्ट नहीं हो सकती है, कारण यह है कि वे प्रबन्ध के प्रवाह में विलीन हो जायेंगे, परन्तु मुक्तक काव्य में यदि एक भी पद साधारण होगा तो रसास्वादन में अभाव आ जायेगा । मुक्तक काव्य में प्रबन्ध जैसा प्रवाह नहीं रहता है, जो नीरस भाव को अपने सरस प्रवाह में विलीन कर दे । यही कारण है कि रचना-कौशल की दृष्टि से जितनी प्रबन्ध रचना कठिन है उतनी ही मुक्तक रचना भी । इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि

प्राचीन भारतीय साहित्य में भी छन्दोबद्ध श्रव्यकाव्य के दो भेद मान्य हो गये हैं।[१] आशय यह है कि जिस काव्य में कथावस्तु का आश्रय लेकर जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत किया जाता है, उसे प्रबन्धकाव्य कहते हैं। मुक्तककाव्य में प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होता है। यही कारण है कि प्रबन्धकाव्य कथा-प्रधान तथा मुक्तक-काव्य भाव-प्रधान होता है। इसी प्रबन्धकाव्य के दो भेद माने गये हैं -

(३) प्रबन्धकाव्य के भेद — महाकाव्य तथा खण्डकाव्य —

प्रबन्धकाव्य के दो भेदों (महाकाव्य और खण्डकाव्य) में से महाकाव्य प्रायः अधिकांश लक्षणकारों द्वारा सुविवेचित है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में महाकाव्य का स्वरूपलक्षण-वर्णन अप्रासङ्गिक होगा। अतः इस स्थल पर खण्डकाव्य का ही वर्णन उल्लेखनीय है।

(ख) खण्डकाव्य का स्वरूप —

प्रबन्धकाव्य में एक ओर महाकाव्य आता है, और दूसरी ओर खण्ड-काव्य। महाकाव्य जहां सम्पूर्ण जीवन पर आश्रित है, वहां खण्डकाव्य जीवन के एक ही पक्ष पर अवलम्बित है। अन्तः कथाओं और घटना-वैविध्य के लिये इसमें स्थान नहीं रहता है, गिनी चुनी घटनाओं के भार से मुक्त रहने के कारण कवि के भावोच्छ्वास के लिये इसमें स्थिति और स्थान दोनों ही अपेक्षाकृत अधिक रहते हैं, जिससे घटनाओं के संकोच का रस की गहराई में पर्यवसित हो जाना स्वाभाविक ही है, अतः सहृदय पाठक और कथानक दोनों ही रस-गाम्भीर्य में मग्न हो जाते हैं।

संस्कृत में खण्डकाव्य की उतनी व्याख्या नहीं हुई है, जितनी महाकाव्य की हुई है। साहित्यदर्पण के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य की परिभाषा करते हुए कहा है :-

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च[२]

१- हिन्दी-साहित्यकोश - पृ० सं० ६५० ।

२- साहित्यदर्पण - षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० २२६ ।

अर्थात् काव्य के एक अंश या देश का अनुसरण करने वाला काव्य खण्डकाव्य कहलाता है, उसका संविधानक महाकाव्य जैसा नहीं होता है, क्योंकि उसमें जीवन का एक ही पक्ष विस्तार पाता है, फलत: उसका बाह्य स्वरूप भी छोटा होता है, अपनी कथा की प्रबद्धता में वह महाकाव्य के सदृश केवल इसी दृष्टि से साम्य रखता है कि उसमें भी एक कथा होती है, जो अपने में पूर्ण होती है तथा कवि जिस जीवनवृत्त को लेकर काव्य सृजन करता है, वह प्रबन्ध रूप में ही विकसित होता है ।

साहित्यदर्पण के प्रणेता आचार्यविश्वनाथ ने मेघदूत को खण्डकाव्य की कोटि के अन्तर्गत माना है,[१] वह उचित है क्योंकि मेघदूत में नायक के जीवन का सर्वाङ्ग चित्रण न होकर उसके जीवन की एक ही घटना का वर्णन हुआ है, एक विरही यक्ष का अपनी प्रियतमा के पास सन्देश भेजने की एक घटनामात्र इस काव्य का वर्ण्यविषय है । अत: यह महाकाव्य का लघुरूप अर्थात् खण्डकाव्य ही माना जा सकता है ।

काव्यादर्श के प्रणेता दण्डी ने मेघदूत की महाकाव्य के अन्तर्गत गणना की है ।[२] उनके अनुसार महाकाव्य के लिये जितने वर्णनीय विषय बताये गये हैं, उनमें यदि कुछ विषयों के वर्णन नहीं भी किये गये हों परन्तु जिनका वर्णन किया गया हो उतने विषयों के वर्णन से ही यदि श्रोता तथा अध्येता आदि रसपुष्टि का अनुभव करते हों तो वह न्यूनता नहीं मानी जायेगी । महाकाव्य में तत्तद्वर्णनीय वस्तुजात का वर्णन साकल्येण अपेक्षित नहीं है, अन्यतमत्वेन प्राचिकत्वेन वा अपेक्षित है ऐसा समझना चाहिए । यदि किसी कवि ने अपने निर्मेय महाकाव्य के लिये कुछ विषयों का वर्णन किया, कुछ को छोड़ भी दिया तो वहां यह नहीं देखा जायेगा कि इन्होंने तत्तत् वस्तु का वर्णन नहीं किया, अत: इनका महाकाव्य निम्न है, परन्तु यह देखा जायेगा कि जितने विषयों का वर्णन किया गया है, उतने से रस की पुष्टि होती है या नहीं, यदि रस की पुष्टि हो जाती है, तब

१- साहित्यदर्पण - षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० २२६ ।

२- हिन्दी मेघदूत विमर्श - मेघदूत के परिचय से उद्धृत, पृ० सं० ३ ।

उस न्यूनता का कोई मूल्य नहीं है । यहां पर यह बात ध्यान देने की है कि यदि कुछ विषयों का वर्णन रह जायेगा तो भी यदि महाकाव्य मानने लगेंगे तब खण्डकाव्य भी महाकाव्य कहे जाने लगेंगे, तो 'खण्डकाव्यं महाकाव्यस्यैकदेशानुसारि च'[1] इस लक्षण द्वारा ही निरस्त किया गया है, इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि महाकाव्य तथा खण्डकाव्य में चमत्कार वैलक्षणकृत भेद है, जो उसे असङ्कीर्ण बनाये रखता है । महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के चमत्कार भिन्न-भिन्न प्रकार के हुआ करते हैं, अत: वर्णनीयविषयसाम्यकृत अतिव्याप्ति का भय नहीं है ।

आचार्य दण्डी ने जो इसकी महाकाव्य रूप में गणना की है, उसका कारण यह भी हो सकता है कि काव्य-रचना की रसमयता से लोकोत्तर आनन्द देने वाले अनुपम गुणों के कारण यह इतना चित्ताकर्षक बन गया है कि इसकी समानता में बहुत से महाकाव्य भी बन सकते हैं ।

अतएव महाकाव्य और खण्डकाव्य में उसी प्रकार अन्तर होता है, जिस प्रकार गद्यक्षेत्र में उपन्यास और कहानी का होता है । कहानी में जीवन के किसी एक मर्मस्पर्शी पक्ष की अनुभूति अभिव्यंजित होती है तथा उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन की अनुभूति की अभिव्यञ्जना होती है । एक का क्षेत्र छोटा होता हुआ भी पूर्ण है तथा दूसरे का विस्तृत होकर अपने में पूर्ण है । ठीक इसी प्रकार खण्डकाव्य यद्यपि जीवन के एक ही अङ्ग को लेकर चलता है, तथा वह अपने में पूर्ण होता है, और उसकी अनुभूति भी पूर्ण होती है । जिस प्रकार कहानी और उपन्यास का भेद आकार का भेद होकर प्रकार का भी भेद होता है । इस प्रकार उपन्यास का छोटा रूप न तो कहानी ही बन सकता है, और न कहानी का बृहदाकार उपन्यास ही हो सकता है । उसी प्रकार महाकाव्य का एक अंश जिसमें जीवन की एकाङ्गी झलक मिल रही हो उसे पृथक रखकर खण्डकाव्य कदापि नहीं बनाया जा सकता है, और न ही खण्डकाव्य बड़े आकार में होकर महाकाव्य ही बन पाता है । वास्तव में

१- काव्यादर्श - पृ० सं० २२ ।

यदि देखा जाय तो देखेंगे कि महाकाव्य में जब कवि की अनुभूति प्रतिभा के सहारे अपनी उच्चतम अवस्था पर पहुंच जाती है, तब उसमें जीवन की सर्वाङ्गपूर्णता के अनुरूप सर्वविध महत्ता आ जाती है, जिस कारण उसका रूप बहुत ही भव्य हो जाता है। किन्तु खण्डकाव्य में कवि की अनुभूति उस विश्व कल्पना की चोटी पर नहीं पहुंच पाती है। उसमें जीवन का एक ही खण्ड लिया जाता है किन्तु वह खण्ड अपने में स्वत: पूर्ण आस्वादयोग्य होता है।

खण्डकाव्य के खण्ड शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि बिखरा हुआ अथवा किसी महाकाव्य का एक खण्ड ही खण्डकाव्य है, प्रत्युत यह खण्ड शब्द उस अनुभूति के स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में कवि को प्रभावित न कर आंशिक या खण्ड रूप में ही प्रभावित करता है। खण्डकाव्य में अनुभूति का स्रोत जिस जीवन खण्ड से आता है वह जीवन अपने में पूर्ण होता है तथा वह अनुभूति भी अपने में पूर्ण होती है किन्तु जब अनुभूति का बिन्दु जीवन के एक पक्ष में जाकर स्थिर हो जाता है तब अभिव्यक्ति का रूप भी जीवन के एक पक्षीय विस्तार के अनुरूप बहुत अधिक नहीं हो पाता है तथा खण्डकाव्य का बाह्य शरीर भी अपेक्षाकृत संक्षिप्त ही रह जाता है। यह अनुभूति सर्गों के कितने ही विशाल तट पर क्यों न ही अभिव्यक्त की जाय, किन्तु जब भी अभिव्यक्त होगी उसका स्वरूप खण्डकाव्य का ही होगा, इसका कारण यह है कि उसमें उतनी ही सामग्री प्रस्तुत करने की क्षमता होती है जितनी उसे एक जीवन खण्ड में मिल सकती है। खण्डकाव्य का रचयिता महाकाव्यकार की भांति अपनी उस सार-ग्राहिणी प्रतिभा के बल पर युग के बीच से किसी महत् चरित्र का अनुसन्धान कर तथा उसकी सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिष्ठा कर युग को कोई महत् सन्देश नहीं देता है, अपितु वह तो कभी किसी पौराणिक या इतिहास-प्रसिद्ध चरित्र के जीवनांश को, तथा कभी-कभी कल्पना द्वारा प्रतिष्ठित चरित्र के जीवन-खण्ड को लेकर ही काव्य-निर्माण करता है, किन्तु उसकी इस अभिव्यञ्जना में अनेक परिस्थितियों में व्यतीत हुए मानव की अनेक अवस्थाओं का चित्रण अनिवार्य नहीं होता है यही कारण है कि खण्डकाव्य उस कहानी के समान है जिसमें एक ही घटना का विस्तार आद्यन्त किया जाता है, तथा जीवन के किसी प्रभावपूर्ण बिन्दु को लेकर ही कहानी का सूत्रपात होता है। उसमें समय, काल और

प्रभाव की एकता परमावश्यक होती है। इसी प्रकार खण्डकाव्य जीवन के किसी एक विशेष अंग की अनुभूति के बिन्दु को लेकर विकसित होता है, किन्तु वह पद्य में कहानी ही ऐसा नहीं होता है। गद्य पद्य का प्रमुख भेद तो दोनों में होता ही है, इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि जहां एक ओर कहानीकार की दृष्टि अन्विति और चरमोत्कर्ष पर ही टिकी रहती है तथा अपने चरम उत्कर्ष के साथ कहानी का अन्त भी हो जाता है वहां दूसरी ओर खण्डकाव्य एक वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य है जिसमें कवि धीरे-धीरे कथा का आरम्भ और विकास करता है। खण्डकाव्य में अत्यधिक प्रभावात्मक स्थल से आरम्भ हुआ जीवन कहानी की भांति एकाएक चरम सीमा पर नहीं पहुंचा दिया जाता है, खण्डकाव्य का थोड़ा सा साम्य कहानी से केवल इतना ही है कि दोनों में जीवन के किसी एक ही पक्ष की अनुभूति की अभि-व्यक्ति होती है।

खण्डकाव्य में कथांश या कथासूत्र का होना परमावश्यक है, इसकी कथा के लिये महाकाव्य की कथा की भांति अनिवार्य तत्व ख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध का होना आवश्यक नहीं होता है। इसका कारण यह है कि उसका ध्येय अपनी कथा के द्वारा कोई महत् सन्देश देना नहीं होता है। कथानक के प्रणयन में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, कभी तो वह अपनी कथा का निर्माता और पात्रों का विधाता स्वयं होता है, और कभी वह अपनी कृति के लिये ऐसे वृत्त को भी ढूंढ़ निकालता है जो पौराणिक ऐतिहासिक अथवा जन प्रचलित होते हैं, अस्तु कल्पना का जितना अधिक क्षेत्र खण्डकाव्यकार को प्राप्त होता है, उतना महाकाव्यकार को नहीं, खण्डकाव्य में कथावस्तु के गठन की ओर अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इसमें कथासंगठन उतना सुव्यवस्थित रूप में नहीं प्राप्त होता है, जितना महाकाव्य में मिलता है, महाकाव्य का सौन्दर्य इसी कथावस्तु की सुन्दर एवं सुव्यवस्थित संघटना पर ही निर्भर होता है। इसकी आवश्यकता वहां इसलिये अनिवार्य होती है क्योंकि उसमें जीवन के समस्त उत्थान और पतन पर आश्रित इतिवृत्त अनेक प्रासंगिक कथाओं को भी लेकर अपने साथ चलता है, यही कारण है कि महाकाव्य में समस्त नाटकीय सन्धियों की अनिवार्यता भी बतायी गयी है। इसके बिना कथावस्तु के प्रधान अंगों आदि मध्य और अन्त के अनुपात में एकरसता नहीं आ पाती है, इसके विपरीत खण्ड-

काव्य की कथा के गठन में इस प्रकार का सौन्दर्य अनिवार्य तत्व नहीं है, इसका कारण यह है कि उसमें जीवन के विविध पक्षों, समस्त उत्कर्षापकर्षों का दिग्दर्शन तथा प्रासंगिक कथाओं का प्राय: अभाव होता है । कभी-कभी छोटी-छोटी घटनाएं अवश्य उसमें प्रासंगिक रूप से आ जाती हैं अन्यथा उसमें एक प्रधान कथा ही आद्यन्त रूप से विद्यमान रहती है । प्रकारान्तर से कथा के विकास में खण्डकाव्यकार को इतना अधिक ध्यान नहीं रखना पड़ता कि प्रत्येक अंग अपनी आवश्यकतानुसार वर्णित हो । अत: खण्डकाव्यों में प्रमुखरूप से उल्लेखनीय महाकवि कालिदास विरचित मेघदूत के विषय में आचार्य आनन्दवर्धन की यह उक्ति अक्षरश: सत्य प्रतीत होती है :—

अपारे काव्यसंसारे कविरेक: प्रजापति: ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिकल्पते ।।[१]

अर्थात् कवि प्रतिभा किसी भी कथानक को अनुपम सृष्टि का रूप प्रदान कर सकती है । प्रस्तुत रचना के कथानक का आधार वस्तुत: अत्यन्त छोटा है, तथापि कवि की उद्भाविनी कल्पना शक्ति ने उस पर एक सुललित कलात्मक सृष्टि की है । इस काव्य में एक विरही यक्ष का अपनी विरहिणी प्रियतमा के पास मेघ द्वारा संदेश भेजने की कथा वर्णित है, इसी छोटे से आधार पर कवि ने दो खण्डों का एक काव्य रच डाला है ।

आशय यह है कि महाकवि कालिदास विरचित मेघदूत खण्डकाव्य में यक्ष ने अचेतन मेघ को मनुष्य जैसा चेतन प्राणी मानकर अपनी विरह विधुरा प्रेयसी यक्षिणी के पास प्रेम का सन्देशवाहक दूत बनाकर भेजने की कल्पना की है । मेघदूत के सन्दर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कथावस्तु का सुझाव वाल्मीकीय रामायण में अशोक वाटिका में रावण के द्वारा अपहृत जनकनन्दिनी के पास हनुमान को भेजना से लिया है । जिसमें अपहृत सीता के लिये राम की गहरी व्याकुलता तथा मेघदूत में अपनी पत्नी के लिये विरही यक्ष के शोक का स्पष्टत: मूल रूप उपस्थित होता है । यक्ष की उत्कंठा में अवास्तविकता का

१- ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत, पृ० सं० ५९८ ।

आभास होने के कारण कविता का प्रभाव नष्ट होता हुआ प्रतीत होता है,क्योंकि यक्ष का वियोग केवल अस्थायी है । मेघदूत में अचेतन वस्तु को प्रेम-प्रसंग में दौत्य-कर्म के लिए भेजना तथा प्रणय में गाढ़ उत्कंठातिरेक की स्वः अभिव्यक्ति करना वास्तव में एक प्रतिभासम्पन्न कवि की मौलिक कल्पना पर ही अवलम्बित है ।

अतएव मेघदूत में यक्ष की भावनाएं ही कवि की अपनी भावनाएं हैं, इस प्रकार इस रचना में परोक्ष रूप से अध्यात्मिकता का सन्निवेश हो गया है, इसी कारण भावावेश को ही प्रधानता प्राप्त हुई है । इसकी कथावस्तु में यथार्थ का अभाव है तथा इसकी कथा काल्पनिक वृत्तों से परिपूर्ण है, खण्डकाव्य में कथानक का महत्व कथानक के लिये नहीं अपितु भावाभिव्यक्ति के लिये होता है । खण्ड-काव्य की इस कथा में मर्मस्पर्शी उद्गार, नायक का परदेश चला जाना, तथा विरहिणी स्त्रियों का अचेतन द्वारा सन्देश भेजना इत्यादि सब स्वाभाविक व्यापार है, जिसमें नारी हृदय की व्यापक सहानुभूतिमय भावना का निदर्शन हुआ है । इस सन्देश की भावना ने संस्कृत की साहित्यिक काव्य परम्परा पर प्रभाव डाला है, तथा इसी प्रेरणा से मेघदूत आदि खण्डकाव्यों की रचना हुई ।

संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य की भांति खण्डकाव्य में सर्गबद्धता का होना अनिवार्य नहीं बताया है । इसके विपरीत महाकाव्य के लिये सर्गबद्ध होना अनिवार्य तत्व है । साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य का लक्षण विस्तार से किया है।[१] इसका कारण यह है कि उसमें मानव जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों का समावेश होता है, फलतः कवि सम्पूर्ण कथा को इस प्रकार अनेक सर्गों में विभक्त करके रखता है, जिससे प्रासंगिक कथाओं के सूत्र आधिकारिक कथा को अग्रसर करने में सहायक हो सके । अतः महाकाव्य में कथा के अविच्छिन्न प्रवाह के लिये सर्गों का बन्धन नितान्त आवश्यक हो जाता है, किन्तु खण्डकाव्य के लिये यह नियम अनिवार्य नहीं होता, उसकी कथा सर्गों में होकर भी गुंथी जा सकती है, और उसके बिना भी उसका प्रणयन हो सकता है क्योंकि जीवन के जिस विच्छिन्न अंश

१- साहित्यदर्पण - कारिका नं० ३१५, षष्ठपरिच्छेद, पृ० सं० २२५ ।

को अथवा घटना को लेकर कवि काव्य रचना करता है उसमें विस्तार का क्षेत्र बहुत छोटा होता है, फलत: खण्डकाव्य में कथा की धारा आद्यन्त एक रस होकर भी चल सकती है और सर्गों में बंध कर भी। महाकाव्य जिन प्रसंगों पर एक सामान्य दृष्टि डालता हुआ आगे की ओर अग्रसर होता है उन्हीं प्रसंगों में कभी-कभी खण्डकाव्य का रचयिता रम जाता है, यही कारण है कि जिन महाकाव्यों और खण्डकाव्यों को प्रेरणा पुराणों अथवा प्राचीन महाकाव्यों से मिलती है उनमें महाकाव्यकार कथा के सभी प्रसंगों पर समान रूप से अपनी दृष्टि डालता है, ऐसी स्थिति में खण्डकाव्यकार उसके अन्तर्गत आई हुई किसी एक घटना को प्रकाश में लाता है, और उसके अपने छोटे से कलेवर में ही खण्डकाव्य की रोचकता बढ़ जाती है।

इस प्रकार खण्डकाव्य की प्रेरणा के मूल में अनुभूति का स्वरूप एक सम्पूर्ण जीवन खण्ड की प्रभावात्मकता से बनता है, जीवन के मर्मस्पर्शी खण्ड का बोध मात्र कवि के हृदय में नहीं होता, प्रत्युत उसका समन्वित प्रभाव भी उसके हृदय पर पड़ता है, तब प्रेरणा के बल पर जो रूप दृष्टिगोचर होता है, वह खण्ड-काव्य कहलाता है। कहीं इस जीवन खंड की विस्तार सीमा अधिक होती है तो कहीं उसकी परिधि छोटी होती है, जिससे खण्डकाव्य का कथानक कहीं बहुत बड़ा होता है तो कहीं बहुत छोटा, किन्तु कथा के इस विस्तार एवं संकोच के तारतम्य से खण्डकाव्य की महत्ता नहीं आंकी जा सकती, क्योंकि जीवन के किसी एक अंग को स्पर्श करने वाला खण्डकाव्य अपनी छोटी-सी परिधि में भी चमक उठता है।

अत: खण्डकाव्य के स्वरूप की इतनी मीमांसा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वह प्रबन्धकाव्य का एक दूसरा प्रकार है जिसमें मानव जीवन के किसी एक साधारण अथवा मार्मिक पक्ष की अनुभूति का अभिव्यञ्जन काव्यात्मक रूप में होता है।

(ग) संस्कृत के खण्डकाव्यों का वैशिष्ट्य —

खण्डकाव्य संस्कृत साहित्य का परम रमणीय अङ्ग है। गीतिकार खण्डकाव्यों में सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था

विशेष का गिने चुने शब्दों में चित्रण करता है । इस प्रकार खण्डकाव्य आत्मानुभूति का जीवन की मार्मिक घटनाओं का संगीतात्मक चित्र है । संस्कृत गीतिकार के लिए किसी भाव या विषय की सीमा नहीं होती है और न ही उसके व्यक्तीकरण में कोई बाधा ही होती तथा महाकाव्य की रूढ़ियां भी उसे आबद्ध नहीं करतीं, अधिकतर इसमें प्रसाद और माधुर्य की ही व्यञ्जना की गयी है । इनके वर्ण्य-विषय प्राय: शृङ्गार, नीति, धर्म तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के होते हैं । वीर, भयानक अथवा रौद्र रसों के लिये इसमें कोई स्थान नहीं होता है । भावों का सौन्दर्य, विचारों की शिष्टता तथा शैली की सरलता सभी गुणों का मणिकांचन संयोग संस्कृत खण्डकाव्यों में द्रष्टव्य है । संस्कृत के खण्डकाव्यों की विशेषताएं इस प्रकार हैं —

१- शब्द क्षेत्र की प्रतिबद्धता -

भावक्षेत्र में काव्यकार जितना स्वतन्त्र है, शब्दक्षेत्र में उतना ही अधिक बाधित । कोमलकान्त पदावली, रमणीय छन्दयोजना, रसपेशल भावसंयोजन, कमनीय शब्द विन्यास, खण्डकाव्यादि की सफलता के लिये आवश्यक है । इस कसौटी पर संस्कृत के खण्डकाव्य सदा खरे उतरे हैं ।

२- रमणी (य) सौन्दर्य बाह्य तथा आन्तरिक -

संस्कृत खण्डकाव्य की एक विशेषता यह है कि रमणीय सौन्दर्य का स्निग्ध चित्रण, रमणी के बाह्य सौन्दर्य के चित्रण के साथ ही साथ उसके अन्त: सौन्दर्य का भी रमणीय चित्रण खण्डकाव्यों की विशेषता होती है, उनमें केवल बाह्य सौन्दर्य का ही अतिरञ्जित वर्णन नहीं किया जाता अपितु मानव मन के अन्तराल में झांककर उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवृत्तियों का भी अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया गया है । नारी हृदय के प्रत्येक स्पन्दन की गतिविधि का चित्र संस्कृत खण्डकाव्यों में आङ्का गया है ।

कतिपय लोगों का कहना है कि संस्कृत खण्डकाव्यों में वर्णित प्रेम प्राय: इन्द्रियजनित और वासना पङ्किल है, पाश्चात्य आलोचक तो उसे अश्लील भी

कहते हैं, किन्तु यह अनुचित है, क्योंकि संस्कृत काव्यों में नायक जितना नायिका के शारीरिक रूप पर मुग्ध है उससे कहीं अधिक उसके सौन्दर्य पर । नारी के हृदय में प्रेम की जो अजस्र धारा बहती है उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति प्राय: सभी संस्कृत खण्डकाव्यों में हुई है, अत: यह दोष सर्वथा भ्रमपूर्ण है ।

३- सात्विक शृङ्गार -

संस्कृत खण्डकाव्यों में रसराज शृङ्गार का अत्यन्त परिष्कृत एवं शोभाशाली रूप हमारे समक्ष आता है, यह शृङ्गार शरीर की वासनाजनित तृष्णा नहीं अपितु मन का विलास है, यही कारण है कि संस्कृत काव्यों के शृङ्गार में उत्कटता और ज्वाला नहीं अपितु मसृणता और मृदुता है । वधू पत्नी और मुग्धाग्राम्य बालाओं को देखकर क्या हमारे समक्ष किसी वासना की अग्नि में दग्ध होती हुई नारी का चित्र उपस्थित होता है, हमारे समक्ष जो जीवन को प्राण सुधा से सिंचित करता है ।

४- प्रकृति के अन्त: एवं बाह्य सौन्दर्य का चित्रण -

संस्कृत खण्डकाव्यों की एक और प्रमुख विशेषता है, उनका जीवन्त प्रकृति चित्रण । बाह्य प्रकृति और अन्त: प्रकृति का चित्रण समान कुशलता के साथ किया गया है । दोनों के पारस्परिक प्रभाव का भी बड़ा सुन्दर वर्णन है, ऋतुसंहार तथा मेघदूत की अन्त: प्रकृति तो सदा ही बाह्य प्रकृति को अपनी सहचरी बना कर अवतरित होती है । प्रकृति के दृश्यों पर मानवीय मनोवृत्तियों का भी आरोप किया गया है ।

इस प्रकार सभी दृष्टियों से संस्कृत साहित्य के खण्डकाव्य अत्यन्त सुन्दर सफल और आकर्षक है ।

संस्कृत साहित्य के कतिपय आचार्य मेघदूत को गीतिकाव्य मानते हैं । बलदेव उपाध्याय ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में कहा है कि संस्कृत के गीतकाव्यों का आदिम ग्रन्थ महाकवि कालिदास का मेघदूत है । इसी प्रकार

स्वर्गीय पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा श्री शान्तिकुमार नानूराम व्यास ने भी 'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा' में कहा है कि मेघदूत संस्कृत के गीतिकाव्य साहित्य का एक परम उज्ज्वल रत्न है।[1] अत: इन आचार्यों ने मेघदूत की गणना जो गीतिकाव्य के अन्तर्गत की है, वह अनुचित है, क्योंकि मेघदूत का मूल तत्व स्वर नहीं है, यही नहीं मेघदूत में संगीतशास्त्र के नियमानुसार स्वर, ताल, राग आदि का प्रयोग भी नहीं हुआ है तथा इसके अतिरिक्त संगीतशास्त्र के नियमानुसार गेयपद में ध्रुवक का भी प्रयोग नहीं हुआ है, जबकि इसके विपरीत जयदेव के गीतगोविन्द में संगीत से सम्बन्धित राग, ताल तथा लय आदि का समुचित रूप से प्रयोग हुआ है, तथा गेय पद में ध्रुवक का भी प्रयोग हुआ है।

अतएव मेघदूत को गीतिकाव्य न मानकर खण्डकाव्य ही मानना उचित है, तथा जयदेव के गीतगोविन्द को रागकाव्य की कोटि के अन्तर्गत मानना उचित है, क्योंकि इसमें संगीतशास्त्र से सम्बन्धित सभी नियमों का पालन हुआ है। जिन खण्डकाव्यों में गीतितत्व प्रचुरमात्रा में विद्यमान है, वे भी शुद्ध गीतिकाव्य नहीं हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्य के प्रबन्ध तथा मुक्तक में दो भेद बताये गये हैं, उनमें मुक्तक से अभिप्राय यह है कि दूसरे पद्यों से निरपेक्ष छन्दोबद्ध रचना को मुक्तक कहते हैं। वस्तुत: गीतिकाव्य और मुक्तक काव्य में महान् अन्तर है। गीतिकाव्य अनुभूति की अन्विति उपस्थित करता है, ऐसी अवस्था में उसके पद्य अपने ही अन्य पद्यों की आकांक्षा अवश्य रखते हैं, मुक्तक छन्द की इकाई मात्र उपस्थित करते हैं।

संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने इस प्रकार गीतिकाव्य नाम का कोई भेद नहीं माना है। मुक्तक वर्ग के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण स्थान गीति कविता को प्राप्त है। जो आज के व्यस्त जीवन में काव्यानन्द के निमित्त अनुकूल होने के कारण अतिशय लोकप्रिय बन गयी है। गीतियों में कवि की अनुभूतियां प्रधान होती हैं, इसी कारण कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष अधिक समृद्ध बन गया है, और गीतियों की सर्वप्रियता के कारण ही प्रबन्धकाव्यों में भी गीति-तत्व का

१- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० सं० २६६।

समावेश हो गया है, इसी कारण उनमें कथा और वस्तु वर्णन क्षीण होता जाता है, और भाव विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रखर होती जाती है ।

पाश्चात्य इतिहास लेखक कीथ ने मेघदूत इत्यादि को गीतिकाव्य के अन्तर्गत अङ्गीकार किया है[1]। इससे ज्ञात होता है कि गीतिकाव्य की यह विधा उपलब्ध थी । मैक्डोनल ने भी उल्लेख किया है कि भारतीय शोध के प्रवेश द्वार पर ही आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व से प्रचलित गीतिकाव्यों की परम्परा उपलब्ध होती है[2]। इसी प्रकार वाचस्पति गैरोला के अनुसार गीत या गीति का अर्थ सामान्यतया गाना समझा लिया जाता है, जिसमें साज-शृङ्गार, गायन वादन की प्रधानता हो, किन्तु यहां गीत या गीति का अर्थ हृदय की रागात्मक भावना को छन्दबद्ध रूप में प्रकट करना अभिप्रेत है[3]। इस प्रकार इन सभी इतिहास लेखकों के अनुसार यह ज्ञात होता है कि उस समय गीतिकाव्य यह विधा सुप्रसिद्ध तथा प्रचलित थी किन्तु यह अवधारणा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र की परम्परा का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती है । इन्हीं पाश्चात्य इतिहास लेखकों से प्रभावित होकर भारतीय संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखकों ने मेघदूत आदि को गीतकाव्य कहा है, परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि इसे भारतीय संगीत शास्त्र के अध्ययन की अज्ञात और साहित्यशास्त्र की परम्परा की अनभिज्ञता कहा जाय तो अनुचित न होगा । पाश्चात्य मनीषियों से प्रभावित होकर भारतीय साहित्य के इतिहास लेखकों ने गीतिकाव्य को एक विधा के रूप में अङ्गीकार किया है और इसके प्रबन्ध तथा मुक्तक में दो भेद माने हैं । इसी भेद के आधार पर आचार्यों ने भर्तृहरि आदि की रचना को मुक्तक कहा है, तथा मेघदूत आदि को प्रबन्ध कहा है ।

भारतीय अलंकार शास्त्र के आचार्यों के मत में गीतकाव्य की कोई

१- संस्कृत साहित्य का इतिहास : कीथ, पृ० सं० १७६ ।

२- संस्कृत साहित्य का इतिहास : मैक्डोनल, पृ० सं० २४ ।

३- संस्कृत साहित्य का इतिहास : गैरोला, पृ० सं० ८६८ ।

स्थिति नहीं है, आचार्य भामह, वामन, दण्डी, रुद्रट, मम्मट, आनन्दवर्धन तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न भेदों और उपभेदों का वर्णन करते समय गीतकाव्य शब्द का प्रयोग तथा गीतात्मक कृतियों का विवेचन नहीं किया है।

संस्कृत साहित्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, नाटक, चम्पू आदि की सुन्दर व्याख्या तो मिल जाती है, किन्तु गीतकाव्य की स्पष्ट परिभाषा नहीं प्राप्त होती है, अत: भारतीय इतिहास के लेखकों ने जो गीतिकाव्य नामक विधा को अङ्गीकार किया है, वह उचित नहीं है।

किन्तु अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गीतिकाव्य यह विधा कैसे प्रचलित और सुप्रसिद्ध हुई, ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् खण्डकाव्य की विकास परम्परा में ही इसका स्वरूप विकसित हुआ होगा, क्योंकि खण्डकाव्य इतिवृत्तात्मक होते हुए भी भावप्रधान था, भावाभिव्यञ्जन का क्षेत्र सीमित नहीं किया जा सकता है, और गीतितत्व इस भावाभिव्यक्ति को और अधिक प्रभावोत्पादक बनाने में समर्थ था, इसलिए खण्डकाव्यों से ही गीतप्रधान एक शैली विकसित हुई,जो रागात्मक होते हुए भी खण्डकाव्यों से अधिक भिन्न नहीं थी।

अत: अधुना यह विवेचनीय है कि गीतिकाव्य का क्या स्वरूप तथा वैशिष्ट्य है।

(घ) गीतिकाव्यों का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य—

गीतिकाव्य संस्कृत साहित्य का परम रमणीय अङ्ग है, गीति की आत्मा भावातिरेक है, कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से वर्ण्य-विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। गीतियों का निर्माण उस बिन्दु पर होता है, जब कवि का हृदय सुख-दु:ख के तीव्र अनुभव से आप्लावित हो जाता है। इसके लिये कतिपय उपकरण आवश्यक होते हैं, भावमयता इनमें मुख्य है। संस्कृत के आलंकारिकों की दृष्टि में काव्यमात्र के लिये रसात्मकता अपेक्षित गुण है, परन्तु गीतिकाव्य के लिये तो यह अनिवार्य है। भावसान्द्रता के अभाव में कोई भी

उचित गीति की महनीय संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकती है, भावों में भी किसी एक भाव को केन्द्रस्थ होना नितान्त आवश्यक होता है, तथा उस केन्द्र स्थित भाव को अन्य भाव स्वसाहाय प्रदान कर उसे अभिवृद्ध, समृद्ध तथा परिपुष्ट किया करते हैं, इसे भावान्विति का अभिधान दिया जा सकता है । सहज अन्त:प्रेरणा तो काव्यमात्र के लिये आवश्यक होती है, परन्तु गीति के लिये तो वह नितान्त आवश्यक है । विषय का आधार तो नाममात्र का ही रहता है, वस्तुत: वह कवि के व्यक्तित्व का प्रतिफलन होता है, गीतिकाव्य के विषय के लिये कवि अपने से बाहर नहीं जाता है,अपितु वह अपने हृदय के अन्तराल में स्थित स्वीय अनुभूति के द्वारा आत्मसात् किये गये विषय को अपने व्यक्तित्व के रंग में रंग कर वह सुन्दरता एवं मोहक शब्दों में व्यक्त करता है । इसी प्रकार संक्षिप्तता तथा गेयता इसके अन्य उपकरण हैं, कवि को गीति में वर्ण्य-विषय के परिबृंहण के लिये अवकाश नहीं होता है, कभी-कभी भावना का आवेश इतना क्षणिक होता है कि कवि एक ही पद या पद्य में उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति कर देता है, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के तारतम्य पर ही काव्य के परिमाण का प्रश्न आधारित होता है, कभी-कभी जब अभिव्यक्ति दूरगामी होती है, तब काव्य का परिमाण मात्राकृत अधिक होता है, नहीं तो संक्षिप्तता गीतिकाव्य का आवश्यक तत्व होती । गेयता भी इसी प्रकार गीति का अनिवार्य उपादान है । काव्य तथा संगीत ये दो पृथक-पृथक अभिव्यक्तियां हैं । काव्य अपनी अभिव्यञ्जना के निमित्त संगीत का अवलम्ब नहीं रखता तथा संगीत भी अपने प्राकट्य के निमित्त काव्य का आलम्बन नहीं रखती, परन्तु दैवयोग से दोनों का एकत्र समन्वय कला की दृष्टि से एक अत्यन्त उत्कृष्ट अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है । अत: गीति उसका एक मधुमय मोहन स्वरूप है, इन सभी तत्वों के सहयोग से गीति काव्य रूपों में एक उत्कृष्ट काव्य रूप है ।

गीत में मनुष्य की विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है, यह अनुभूतियां कवि के कार्य-व्यापार और वातावरण के कारण अनेक रूप धारण करती हैं, हर्ष, विषाद, राग-द्वेष, संयोग-वियोग आदि अनेक प्रकार की शाश्वत मनोवृत्तियों का चित्रण उसमें रहता है । वस्तुस्थिति यह है कि

जब किसी भी कोमल भाव की अनुभूति पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है, तब गीत स्वत: ही फूट निकलता है। यद्यपि काव्य के किसी भी रूप का अस्तित्व भाव के ही आधार पर हो सकता है, महाकाव्य हो या खण्डकाव्य, नाटक हो या गीति इन सभी के मूल में भाव की ही मार्मिकता अनिवार्य रूप से अभीष्ट होती है ; किन्तु गीति के विषय में भावाभिनिवेश और भी अधिक अपेक्षित है, क्योंकि गीतिकार का क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यन्त संकुचित होने के कारण प्रभाव की सृष्टि के लिये उसे मूलतत्व (भाव) का अधिकाधिक आश्रय लेना पड़ता है, तथा उसी के माध्यम से वह अपने पाठकों की अनुभूति को तीव्र कर सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गीति की आत्मा भावातिरेक है, कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से विषय अथवा वस्तु को भावात्मक बना देता है। जिस प्रकार सांसारिक वस्तुएं स्वयं जीवन का साध्य नहीं साधन है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में भी वस्तु अथवा विषय अनुभूति का साधन मात्र बन जाता है, यद्यपि यह कहना दुष्कर प्रतीत होता है कि कवि अनुभूति से वस्तु की ओर जाता है, अथवा वस्तु से अनुभूति की ओर, क्योंकि जहां अनुभूति के रंग में वस्तु का रंगा जाना दिखाई पड़ता है, वहां वस्तु द्वारा अनुभूति की तीव्रता भी दृष्टिगोचर होती है, यही कारण है कि अनुभूति की चरमावस्था में वस्तु का अपना महत्व कुछ नहीं रह जाता, वह गौण होकर अनुभूति के ही अनुरूप कार्य करने लगती है, यही कारण है कि अनुभूति के अनुसार एक ही वस्तु से विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएं हुआ करती है -यथा संयोग की अवस्था में शीतलता प्रदान करने वाले चन्द्र और चन्दन वियोग की अवस्था में अग्नि के समान दाहक प्रतीत होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कवि की अन्तर्वृत्ति वस्तु अथवा विषय के साथ स्वानुरूपता स्थापित कर लेती है, और विषय तथा विषयी का भेद तिरोहित हो जाता है, गीतिकाव्य की मार्मिकता का रहस्य यही तादात्म्य स्थिति है।

गीतिकाव्य विषयक भारतीय मत एवं पाश्चात्य मत

(१) भारतीय मत :—

भारतवर्ष में प्राचीनकाल में गीतियों को संगीत का अङ्ग माना जाता था । अवश्य संगीतशास्त्र के अन्तर्गत इसका वर्णन मिलता है । काव्य क्षेत्र में इसकी बहुत थोड़ी चर्चा की गयी है, संस्कृत के आचार्यों ने दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य की समालोचना करके ही अपने कर्तव्य को पूरा कर दिया था, उन्होंने गीतियों के विषय में कुछ नहीं लिखा, इन ग्रन्थों में एक ओर तो काव्य के बहिरंग पर प्रकाश डाला गया है, तथा दूसरी ओर विस्तारपूर्वक रस की चर्चा की गयी है । परन्तु कवि ने किस मन:स्थिति में काव्य प्रणयन किया इस पर विचार करने की आवश्यकता किसी को नहीं प्रतीत हुई । वस्तुत: यहां काव्य के सामाजिक पक्ष को अत्यधिक प्रधानता प्राप्त हो गयी थी, कवि समाज के निमित्त काव्य रचना करते थे और उनमें सामाजिक भावनाओं को ही स्थान प्राप्त था, कवि ने अपनी अनुभूतियों के सामाजिक रूप को ही सदा पाठकों के समक्ष रखा । भारतवर्ष में प्राचीन गीतों का विकास लोक गीतों से ही हुआ है, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश सभी भाषाओं में लोकगीत मिलते हैं, और इन्हीं के प्रभाव से गीतों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में गीति को कोई स्वतन्त्र काव्यभेद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है किन्तु फिर भी सामान्य रूप से संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा लक्षित काव्य की विशेषताओं पर दृष्टि डालनी अपेक्षित है । विभिन्न सम्प्रदायों के वाद-विवाद के उपरान्त संस्कृत साहित्य में रस की महत्ता स्वीकृत हुई और उसी को काव्य का जीवन माना जाने लगा, यद्यपि रस रहित केवल वैचित्र्य प्रधान रचना को काव्य की संज्ञा से वञ्चित नहीं किया गया, तथापि उसे अपेक्षाकृत निम्नकोटि का स्थान मिला और वैचित्र्य की पराकाष्ठा होने पर उसे अधम विशेषण से विभूषित किया गया ; ध्वनिप्रधान काव्य को उत्तम माना गया तथा उसमें भी असंलक्ष्यक्रम ध्वनि को विशिष्ट स्थान मिला तथा सानुभूति पर बल दिया गया । प्रारम्भ में रस की स्थिति नाटक में ही समझी गयी किन्तु आगे चलकर अनुभव के आधार पर उसे प्रबन्धकाव्य में और उसके पश्चात् मुक्तक में भी सम्भव मान लिया

प्रबन्धकाव्यों में प्रसङ्गानुसार यत्र-तत्र अनेक प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति का अवसर होता है, किन्तु मुक्तकों में अथवा लघुकलेवर रचनाओं में केवल एक भाव की ही अभिव्यक्ति सम्भव है। अत: यह कहा जा सकता है कि क्षणिक भावावेश में किसी इतिवृत्त अथवा वस्तु का आश्रय लिये बिना केवल एक ही भावना की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है, इस प्रकार की रचनाएं संस्कृत में हुई तो अवश्य किन्तु उनका पृथक् रूप से नामकरण नहीं किया गया। इन रचनाओं की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ये सभी गेय है, संस्कृत का प्रत्येक छन्द गेय है, तथा संस्कृत में छन्दोहीन कविता आज तक लिखी ही नहीं गयी, किन्तु इतिहास, पुराण, रामायण महाभारत आदि इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ प्राय: अनुष्टुप छन्द में ही लिखे गये हैं, जो अपेक्षाकृत कम गेय हैं, अथवा सहज गेय नहीं है। महाकाव्यों की रचना तो गेय छन्दों में ही हुई। रस परिपाक का भी उसमें पर्याप्त ध्यान रखा गया किन्तु साधारण रसपेशल मुक्तक से महाकाव्य में एक मौलिक भेद यह रहा कि कथानक एवं वर्णन वैविध्य के आग्रह के कारण उसमें वस्तुनिष्ठता का स्वर ही ऊंचा रहा, अत: पुराण, महाकाव्य आदि इतिवृत्त पर आधृत रचनाओं से भिन्न रसात्मकता संक्षिप्तता और गेयता आदि गुणों की प्रधानता रखने वाली लघु रचनाओं को गीतिकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है। अत: यह गीतिकाव्य विषयक भारतीय मत है।

(२) पाश्चात्य मत :—

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य में दो प्रकार की विषय वस्तु का उपयोग किया जाता है। एक तो वह जो पदार्थों, वस्तुओं, घटनाओं तथा संसार में बिखरी अन्य अनेक बातों से प्राप्त होती है। दूसरी जो कवि के अपने विचारों एवं भावों से प्राप्त होती है। इसी विषय वस्तु के आधार पर काव्य को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है[१]:—

(क) व्यक्तिपरक

(ख) वस्तुपरक

१- पाश्चात्य साहित्यशास्त्र - पृ० सं० ३४० ।

पूर्ण तथा सापेक्ष भेद से दो प्रकार की कवि दृष्टि मानी है प्रथम में कवि जो कुछ देखता सुनता है, उसी का निर्लिप्त भाव से वर्णन करता है । महाकाव्य अथवा नाटक की रचना के लिए प्रथम प्रकार की दृष्टि अपेक्षित है । जबकि द्वितीय में जो कुछ देखता सुनता है उसके सम्बन्ध में अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का प्रकाशन करता है । इस प्रकार विशुद्ध गीति की रचना के लिये द्वितीय प्रकार की दृष्टि अपेक्षित है, सापेक्ष अथवा संकीर्ण दृष्टि वाला कवि अपने व्यक्तित्व से अभिभूत रहता है, अत: स्वतन्त्र चरित्रों (पात्रों) की अवतारणा में असमर्थ होता है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह प्रकारान्तर से अपना ही चित्रण करता है । निरपेक्ष अथवा पूर्ण दृष्टिवाला कवि अपने से भिन्न पात्र की सृष्टि करता है,जिसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र होता है ।

इस प्रकार वस्तुपरक काव्य निर्वैयक्तिक होता है, और व्यक्तिपरक काव्य वैयक्तिक । यह वर्गीकरण सिद्धान्त रूप में तो ठीक है किन्तु व्यवहारिक रूप में उन दोनों के अन्तर को बनाये रखना असम्भव ही है, क्योंकि अत्यन्तनिर्वैयक्तिक कृतियों में भी किसी न किसी रूप में कवि के व्यक्तित्व की छाप हो सकती है,और साथ ही वैयक्तिक रचनाओं में निर्वैयक्तिक विवरण हो सकता है, जहां कवि अपनी भावनाओं से पृथक होकर वर्णन करता है ।

व्यक्तिपरक काव्य को गीतिकाव्य भी कहा जाता है, इस प्रकार गीति प्रवृत्ति का मूल आधार आत्मवाद है । अनेक गीतिकारों में तो सापेक्ष दृष्टि का भी उन्नत रूप नहीं दिखाई पड़ता । वे अपने भावों ही भावों में लीन रहते हैं । अपने चारों ओर फैले हुए जीवन से उनका कोई गहरा लगाव नहीं होता है ।इसलिये यह कहा जा सकता है कि इस कोटि के कवि के लिए उसका अन्त:करण एक साम्राज्य है, तथा जितना छोटा वह कवि होगा उतना ही बड़ा उसके लिए यह साम्राज्य होगा, उसका गीत बड़ा ही मधुर, करुण और सुन्दर होता है, किन्तु वह होता है उसके ही आन्तरिक जगत से सम्बद्ध । उसी के सुख-दु:ख, आशा-निराशा,इच्छामय आदि से वह ओतप्रोत रहता है ।

दूसरी कोटि के कवि आत्मवादी तो होते हैं, फिर भी उनकी दृष्टि

कुछ व्यापक होती है, किन्तु दूरदर्शी होते हुए भी वे सूक्ष्मदर्शी नहीं होते और जाति को देखकर भी व्यक्ति को नहीं देख पाते, सामान्य के आगे विशेष तक उनकी दृष्टि नहीं पहुंच पाती। वे वर्गगत (Typical) चरित्रों को जन्म दे सकते हैं। व्यक्तिगत चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सकते। इस प्रकार का कवि सम्पूर्ण मानव जाति का प्रतिनिधित्व करता है।

तीसरी कोटि का कवि आत्मवाद की परिधि से बाहर होता है। 'एकोऽहं बहुस्याम' की भावना उसकी कला को प्रेरणा देती है, वह वर्ग की नहीं, व्यक्ति की सृष्टि करता है। उसकी सृष्टि अलौकिक और स्वत: पूर्ण होती है। इतनी पूर्ण कि उसके अन्दर कोई देवी शक्ति प्रविष्ट होकर पथ-प्रदर्शन करती हुई-सी प्रतीत होती है, वह सजीव पात्रों का सृष्टा होता है।

इस प्रकार प्राचीन काल में गीतिकाव्य का संगीत के साथ अन्यतम साहचर्य था, बल्कि यह कहना उचित होगा कि संगीत तत्व को प्रमुखता और भावना एवं विचारतत्वों को गौणता प्राप्त थी। क्रमश: भावों और विचारों को इतनी प्रधानता प्राप्त होने लगी कि संगीत ही गौण हो गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर संगीत इतना गौण होता गया कि काव्य का लयात्मक संगीत से संयुक्त होना ही आवश्यक नहीं रहा बल्कि शब्द संगीत की प्रतिष्ठा हुई, जिसके अनुसार शब्दों में अपना संगीत है, और शब्दों का समुच्चय विशेष प्रकार के संगीतात्मक प्रभाव की सृष्टि करता है, इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य के एलिजाबेथयुग में यह प्रवृत्ति लक्षित हुई, जिसमें संगीतात्मकता का आग्रह नहीं रहा बल्कि लय पर कवि का ध्यान रहा, रोमांटिक युग में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते रहे, एलिजाबेथ युग अंग्रेजी गीतिकाव्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, भाव और कला की दृष्टि से गीतिकाव्य इस युग में उन्नत हुआ तथा उसका शास्त्रीय विश्लेषण भी इसी युग में हुआ, जैसा कि बताया जा चुका है कि विलियम वेब ने १५८६ ई० में सर्वप्रथम गीतिकाव्य को एक स्वतन्त्र काव्य-विधा स्वीकार कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार यह गीतिकाव्य विषयक पाश्चात्य मत है।

(ड०) <u>गीतिकाव्यों का उद्भव एवं विकास</u> — संस्कृत साहित्य में गीति परम्परा

का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि संस्कृत साहित्य का । भारत में गीतिकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, यह माना जाता था कि भारत में गीतिकाव्य का प्रचलन पाश्चात्य प्रभाव से आया है, किन्तु अधुना अन्वेषणों से यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि पाश्चात्य प्रभाव के बहुत पूर्व प्रचुर मात्रा में गीतिकाव्य की रचना हो चुकी थी । गीतिकाव्य के इतिहास का समारम्भ वेदों से माना जाता है । इस प्रकार गीतिकाव्य का उद्गम सर्वप्राचीन ऋग्वेद से ही है, इस ग्रन्थ की रचना जिन छन्दों में हुई है वे समष्टि रूप में मंत्र कहे जाते हैं । इन मंत्रों में 'गेयता' प्रमुखतया विद्यमान है । उषा इसके प्रति की गयी स्तुतियों में गीतिकाव्य की प्रथम झलक दृष्टिगोचर होती है, इसके अतिरिक्त पर्जन्य, विष्णु, सविता, अदिति, मरुत आदि देवों की अनेकानेक सूक्तों में की गयी स्तुति तथा पुरूरवा-उर्वशी एवं यम-यमी संवाद सूक्तों में जिस भाव विह्वलता से वर्णन किया गया है, वही निश्चित रूप से गीतिकाव्य के बीज हैं ।

इस प्रकार ऋग्वेद में जो गीतितत्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं, उसका कारण यह है कि वैदिककाल में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व प्राप्त था, अतएव धार्मिक अवसरों पर, पर्वों, उत्सवों के समय गीतात्मक रचनाओं का प्रयोग होता था, ऋग्वेद के ये गीतात्मक अंश पूर्ण साहित्यिक हैं एवं रचना कलात्मक तथा परिश्रम साध्य प्रतीत होती है । इससे यह भी अनुमान होता है कि पहले से ही समाज में लौकिक गीतों की परम्परा प्रचलित थी, और उसका परिष्कृत रूप ऋग्वेद में रखा गया क्योंकि लोकगीतों से ही साहित्यिक गीतों का विकास हुआ है । वैदिक काल में काव्य और संगीत में भेद नहीं था, वेद की ऋचाएं एक विशेष ढंग से गाकर पढ़ी जाती थीं, इन ऋचाओं के पढ़ने में जिन स्वरों का प्रयोग होता था उनके तीन भेद किये गये हैं - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । संगीत में निपुण गन्धर्व वैदिककाल में गान गाते थे । सामवेद में अनेक वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जैसे - दुन्दुभी, अडम्बर, वीणा आदि । इस प्रकार यह युग सामूहिक, संस्कृत और सामाजिक चेतना का था । अतएव वैदिक ऋचाओं का सामूहिक ढंग से सस्वर संगीतपूर्ण पाठ होता था ।

ऋग्वेद में अनेक कवियों ने प्राकृतिक शक्तियों, द्यावा, पृथ्वी, उषा,

सन्ध्या का मनोज्ञ चित्रण किया है । इन कवियों ने प्रकृति के शक्तिशाली उपादानों की प्रसन्नता हेतु एक ओर तो उनकी प्रार्थना और प्रशस्ति की ऋचाओं को लिखा है, तो दूसरी ओर प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेरित होकर उसकी मनोज्ञ अभिव्यञ्जना की है । ये सौन्दर्य वर्णन आत्मविभोर हृदय से उत्पन्न हुए हैं । इस सन्दर्भ में उषा का वर्णन ऐसा ही है । इस प्रकार प्राकृतिक वर्णनों में सबसे अधिक मनोज्ञ एवं सुकुमार कल्पनाएं उषा के प्रसङ्ग में प्राप्त होती है, जिनमें शृङ्गार भावना का सूक्ष्म तथा मृदुल एवं मधुर स्वरूप भी अंकित दृष्टव्य हैं । इसके साथ ही कोमलकान्तपदावली का स्वाभाविक प्रभाव भी लक्षित करने योग्य है ।[१]

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्स:

आशय यह है कि कवि उषा की उपमा शोभनवस्त्रावृत युवती से दी है, तथा नारी के कोमल हृदय का स्पर्श कर एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की अभिव्यञ्जना की ओर इंगित किया है ।

कौन सुन्दरी अपने प्रियतम के समक्ष हृदय नहीं खोल देती ? सुन्दरतम सज्जा सम्पन्न रूप से रिझाकर कौन उसे अपना वशंवद नहीं बना लेना चाहती ? यह आभा अपनी मधुरता के कारण ऋग्वेद के ऋषियों को बड़ी रुचिकर प्रतीत होती है ।

दशम मण्डल में एक दूसरा ऋषि व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कहता है[२] —

उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा: ।।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार इसका अर्थ है व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं

१- ऋग्वेद संहिता - प्रथम भाग, १। १२४ ।७, पृ० सं० ७८८ ।
२- ऋग्वेद संहिता - चतुर्थ भाग, १०। ७१।४, पृ० सं० ५३४ ।

सुनता, किन्तु व्याकरण के ज्ञाता के लिए वाणी अपना स्वरूप उसी प्रकार खोल देती है, जिस प्रकार शोभन वस्त्रों में सुसज्जित कामिनी अपने पति के समक्ष अपने आपको समर्पित कर देती है। इस प्रकार यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपमा की मार्मिकता के साथ विरोधाभास का चमत्कार और लक्षणा की स्वाभाविक शक्ति वर्ण्यविषय की शुष्कता को सरसता में परिणत कर काव्य का सुन्दर रूप उपस्थित करती है। उषा की सुकुमारता की व्यञ्जना का उत्कर्ष इन आशङ्का-पूर्ण शब्दों से स्पष्ट लक्षित होता है कि कहीं सूर्य की तीव्र किरणें उसे सन्तप्त न करदे, जिस प्रकार राजा चोर अथवा शत्रु को संतप्त करता है[1] -

नेत्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते।

रङ्गमंच पर थिरकने वाली नर्तकी की तनुयष्टि, जिसका उन्मुक्त सौन्दर्य दर्शकों को मोहित कर लेता है, उपमान रूप में प्रयुक्त होकर उषा की विशद् रमणीयता को अपने ही समान साकार बनाती हुई इस पंक्ति में दृग्गोचर होती है[2] -

'अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।'

अपना वक्ष खोलकर दर्शकों को मोह लेने वाली नर्तकी, ऋषियों को आकृष्ट कर लेने वाली वैसी ही उषा और सहृदयों को लुभाने वाली इस ऋचा में कौन अधिक सुन्दर है यह कहना कठिन है। इस प्रकार उषा को विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है। वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि ने उसे नारी रूप प्रदान किया है, जो सलज्ज है, मुस्कराती है, और दर्शकों को आकर्षित करती है। इस प्रकार के वर्णन उदात्त कल्पना और भाव विह्वलता से युक्त है। अतएव इन्हें गीतात्मक मानने में कोई बाधा नहीं दृष्टिगोचर होती।

प्रकृति के अनेक रम्य वर्णनों के साथ ऋग्वेद में ऐसे भी अनेक स्थल हैं, जहां मानवीय भावनाओं का सुन्दर गीतात्मक स्वरूप चित्रित किया गया है। अत्रि

१- ऋग्वेदसंहिता - द्वितीय भाग, ५।७९।९, पृ० सं० ६७५।
२- ऋग्वेदसंहिता - प्रथम भाग, १।९२।४, पृ० सं० ५६८।

की पुत्री अपाला की इन्द्रविषयक अनुरक्ति के वर्णन, पुरूरवा की उर्वशी के प्रति आसक्ति के चित्रण तथा यम-यमी संवाद को पढ़कर गीतात्मक प्रसंगों का अच्छा बोध होता है । अपाला और यमी ने जिस आकुलता से अपने प्रेमी से मिलने की कामना की है, पुरूरवा ने उर्वशी के वियोग में जिस तीव्र वेदना का अनुभव किया है वह सब कुछ स्वाभाविक है । भावों की यह तीव्र वेदना और आत्मनिवेदन की ये पंक्तियां सीधे हृदय से सम्बन्धित हैं, इन्होंने इन अंशों को उत्तम गीति माना है। श्यावाश्व और रथवीति की कन्या का प्रसंग जिसमें श्यावाश्व की प्रबल विरह वेदना का वर्णन किया गया है, गीतात्मकता से सर्वथा पूर्ण है । ऐसे स्थलों पर भाव के उपयुक्त छन्दों का प्रयोग किया गया है । अत: भावों की अभिव्यञ्जना में किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं दृष्टिगोचर होती । ये वैदिक ऋचाएं गेय तो हैं इसके साथ ही इनमें प्रथम पंक्ति की पुनरावृत्ति की परम्परा भी दिखाई पड़ती है, जो आगे चलकर टेक के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी ।

इस प्रकार भाषा की सहज सरलता और कल्पना की स्वाभाविकता के अतिरिक्त छन्द की मधुर लय की विशेषता अत्यन्त महत्वपूर्ण है । आदि से लेकर अन्त तक सभी ऋचाएं गेय है, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के विधान द्वारा उच्चारण को निश्चित रूप में बांधने का जो प्रयास किया गया था वह भाषा विज्ञान की दृष्टि से नहीं, अपितु गेयता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है ।

यह सर्वविदित है कि आज भी परम्परागत प्रणाली के अनुसार शिक्षित वेदपाठी इन ऋचाओं का सस्वर गान करते हैं । इस प्रकार सस्वर गान करने के कारण लय हृदय को स्पर्श करती हुई गूंज उठती है । दुन्दुभि, अदम्बर आदि अनेक वाद्यों का भी उल्लेख वेदों में मिलता है । वैदिक उच्चारण की इस संगीतात्मकता को पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है, इस प्रकार गीतिकाव्य की अनेक विशेषताएं तथा मूलतत्व अपने प्रारम्भिक एवं विकासोन्मुख रूप में ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं, अत: सन्देह नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद जहां अन्य अनेक प्रकार के ज्ञान का मूलस्रोत है,वहां गीतिकाव्य का भी । ऋग्वेद की भांति यजुर्वेद काल में भी संगीत तत्व की उन्नति हुई है । इसी प्रकार सामवेद काल में भी संगीत की विशिष्ट उन्नति हुई क्योंकि सामवेद का सम्बन्ध संगीत से है, सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद है, जिसमें नाट्य और

संगीत का विवेचन है, सामवेद में उदात्त और अनुदात्त स्वरों का उल्लेख है, ऋक् प्रातिशाख्य में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ स्वर का उल्लेख मिलता है । मंद्र और अतिस्वर का भी आगम हुआ है, सामवेद के १५४६ मंत्रों में से केवल ७५ ही नये हैं, अवशिष्ट मंत्र ऋग्वेद से संगृहीत है, ऋग्वेद में पक्षियों का गायन साम के समान मधुर बताते हुए कहा गया है[१]—

उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्रइव सवनेषु शंससि ।

छान्दोग्य उपनिषद में स्वर को ही साम की गति बताया है[२]

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में साम शब्द की बहुत ही सुन्दर व्युत्पत्ति दी गयी है[३]

सा चामश्चेति तत्साम्न: सामत्वम् ।

अर्थात् सा शब्द का अर्थ है ऋक् और अम का अर्थ है गान्धार आदि स्वर । अत: साम शब्द का व्युत्पत्ति सूचित अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वर प्रधान गायन । जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते हैं, वे सामयोनि के नाम से विख्यात हैं, इस प्रकार सामसंहिता इन्हीं ऋचाओं का संग्रह मात्र है । नारदीय शिक्षा में सामगान के सात स्वरों का भी उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है[४]--

य: सामगानां प्रथम: स वेणोर्मध्यम: स्वर: ।
यो द्वितीय: स गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभ: स्मृत: ।।
चतुर्थ: षड्ज इत्याहु: पञ्चमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादो विज्ञेय: सप्तम: पञ्चम: स्मृत: ।।

इस प्रकार अनुसन्धान करने पर वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र अनेक काव्यमय एवं काव्योपयोगी स्थल मिल जाते हैं । मानवीय भावनाओं को उद्बुद्ध करने वाले

१- ऋग्वेदसंहिता - द्वितीय भाग, २।४३। २, पृ० सं० १७५ ।

२- छान्दोग्य उपनिषद - १।८।४, पृ० सं० ४२ ।

३- बृहदारण्यक उपनिषद- १।३। २२, पृ० सं० १४४ ।

४- नारदीया शिक्षा - पञ्चखण्ड, श्लोक १, २, पृ० सं० ७ ।

अनेक स्थलों के होते हुए भी, जिनमें कहीं-कहीं पर गीतिकाव्य की भावसाद्रता परिलक्षित होती है । अतएव वैदिककाल में संगीत का महत्व था, सामवेद में उसकी समृद्धि का विवरण है, यजुर्वेद में माने गये तीन वैदिक स्वर सात स्वरों में पल्लवित हो गये हैं । आगे चलकर इन स्वरों के परस्पर सम्बन्ध भी स्थिर किये गये जो वादी संवादी, अनुवादी और विवादी हैं । इसके साथ ही स्वरों की २२ श्रुतियों की भी योजना की गयी है, लेकिन गीतों की पृथक् रूप से कोई चर्चा नहीं की गयी है, कुछ दिनों के बाद भरतमुनि ने गीतों को नाटकों में रखने का सफल प्रयास किया, क्योंकि इनकी उत्तम अभिव्यञ्जना शक्ति नाटकों की सफलता में पूर्ण सहायक प्रतीत हुई, यूनान की भांति भारतवर्ष में भी गीतों को संगीत के क्षेत्र में ही स्थान प्राप्त था, यह दोनों एक ही माने जाते थे, इसलिए प्राचीनकाल में इनकी पृथक् रूप से चर्चा नहीं की गयी ।

इस प्रकार वैदिक साहित्य के पश्चात् वाल्मीकि रामायण में गीति-तत्व का मधुर समावेश प्राप्त होता है, व्याध द्वारा क्रौञ्च हनन से मानव के विदीर्ण हृदय से प्रस्फुटित शब्द जो कि सन्ध्योपासन में निमग्न मुनि के माध्यम से श्लोक रूप में प्रकट हुए, लौकिक संस्कृत में गीतिकाव्य के उद्भव के प्रेरणास्रोत माने जाते हैं ।[1]

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

वाल्मीकि के प्रकृति-चित्रण, अयोध्या वर्णन, भरत-विलाप, शरद-वर्णन एवं सीताहरण इत्यादि प्रसंग गीतिशैली से ओतप्रोत है । चन्द्रोदय का उपमा अलंकार युक्त वर्णन दृष्टव्य है[2] —

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः सिंहो यथा मन्दरकंदरस्थः ।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः ।।

रामायण की भांति महाभारत में भी गीतिकाव्य के विकास के चिह्न

१- वाल्मीकि रामायण - बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग, श्लोक १५, पृ० सं० ११ ।
२- वाल्मीकि रामायण- सुन्दरकाण्ड, पञ्चमसर्ग, श्लोक ४, पृ० सं० ५६३ ।

प्राप्त होते हैं, इस प्रकार संगीत की यह तीन धाराएं गायन, वादन एवं नृत्य महाभारत काल में स्पष्ट हो चुकी थी। इसका स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत पद्य में मिलता है[1]—

नित्यमाराधयिष्यंस्तां युवा यौवनगोचरे।
गायन् नृत्यन् वादयंश्च देवयानीमतोषयत्।।

इतना ही नहीं "गायन्ती च छलन्ती च रहः पर्यचरत् तथा"[2] में "छलन्ती" संगीत के एक प्रकार तथा "गायन्ती" लय पूर्ण गान का द्योतक है, इसके अतिरिक्त कच-देवयानी संवाद, पुरूरवा-उर्वशी संवाद तथा अन्य अनेक स्थलों पर महाभारत में गीतितत्व की उपलब्धि होती है। रामायण और महाभारत के अतिरिक्त पुराणों के अनेकानेक स्थलों पर गीतिमय शैली में विषय प्रतिपादन हुआ है, इसके साथ ही अनेक सुभाषित ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से उद्धृत गीतिपद्य भी गीतिकाव्य धारा के प्रवाह स्रोत है। परन्तु यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि यह गीतिपद्य इन काव्यों में कविहृदयों की सहज उपलब्धियां है। इन कवियों का उद्देश्य गीतिकाव्यों का सृजन करना कदापि नहीं था, लौकिक संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य का स्वतंत्र एवं स्पष्ट अस्तित्व मेघदूत के रूप में प्रकट हुआ, इसमें कवि की प्रौढ़ता पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। भावों की मनोहारिता एवं भाषा की मंजुलता का इस काव्य में अपूर्व सामञ्जस्य हुआ है। अतएव अनेक विद्वानों के द्वारा गीतिकाव्य न माने जाने पर भी अधिकांश विद्वत समुदाय इसे गीतिकाव्य की कोटि में मानते हैं, मेघदूत में जो गीतात्मक दृष्टिगोचर होती है, केवल उतने से ही उस रचना को गीतिकाव्य नहीं कह सकते, इस प्रकार जहां कथा के साथ-साथ यक्ष की विह्वलता और प्रेम के अतिरेक की भी अभिव्यक्ति हुई है, केवल उन्हीं अंशों को गीति की विशेषता से समन्वित माना जा सकता है। इस प्रकार मेघदूत ऐसी ही रचना है, जिसे अनेक समीक्षक गीतिकाव्य मानते हैं, इसका कारण यह है कि मेघदूत में यक्ष ने मेघ को मनुष्य जैसा मानकर उसके द्वारा अपनी प्रियतमा के पास सन्देश भेजने की चेष्टा की

१- महाभारत - आदिपर्व, ७६वां अध्याय, श्लोक २४, पृ० सं० २३६।
२- महाभारत - आदिपर्व, ७६ वां अध्याय, श्लोक २६, पृ० सं० २३६।

है, मेघदूत में यक्ष की भावनाएं कवि की अपनी भावनाएं हैं। इस प्रकार इस रचना में परोक्ष रूप से अध्यान्तरिकता का सन्निवेश हो गया है, तथा भावावेश को प्रधानता प्राप्त हुई है, इस प्रकार प्रकृति के रम्य उदार एवं सामञ्जस्यपूर्ण चित्र अंकित किये गये हैं, इन कारणों से इस रचना में गीतात्मकता की सृष्टि हो गयी है।

मेघदूत को संस्कृत के आचार्यों ने खण्डकाव्य की संज्ञा दी है, यह उचित है, इसे काव्य का खण्ड माना जा सकता है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य की वास्तविक परम्परा के प्रवर्तक बारहवीं शती में उत्पन्न जयदेव माने जाते हैं। जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना के लिए संस्कृत के प्रचलित मात्रिक छन्दों को अपनाकर कलापक्ष को चरमोन्नति पर पहुंचा दिया तथा छन्दों को रागों और तालों के अनुसार व्यवस्थित करके पूर्ण गेय बना दिया एवं लोकगीतों के ऐश्वर्य को पुनः साहित्य में स्थापित कर दिया। गीतगोविन्द के गीतों में गीति, नाटक दोनों की विशेषताएं मिलती हैं। जयदेव के गीतों में जो राग और ताल का निर्देश है उसका कारण है कि यह गीत संगीत तथा नृत्य की संगति में गाये जाते हैं। जनसाधारण के गीतों की परम्परा को लेकर महाकवि जयदेव ने कोमलकान्तपदावली में महान् गीत रचना प्रस्तुत की है, यह कोई असाधारण प्रतिभासम्पन्न कवि ही कर सकता है। इस प्रकार गीतगोविन्द में संगीतात्मकता, भावगतमनोज्ञता, कवि की आत्म विह्वलता, कोमलकान्तपदावली, छन्दों का समुचित प्रयोग और कलात्मकता आदि सब कुछ प्रशंसनीय है। इस काव्य में उच्चकोटि की ध्वनि और अर्थ का समन्वय प्राप्त होता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ही इसका प्रभाव धर्म और साहित्य दोनों पर पड़ा है।

(ब) संस्कृत काव्यशास्त्र में गीतिकाव्य विषयक अनुल्लेख और उसका कारण

संस्कृत काव्यशास्त्र में पृथक् काव्याङ्ग के रूप में गीति का विवेचन उपलब्ध नहीं होता है, आजकल गीति शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'लिरिक' शब्द के अर्थ में होता है। यह 'लिरिक' शब्द यूनानी शब्द 'लायर' से विकसित हुआ है। लायर एक प्रकार का वाद्य होता था, प्रारम्भ में इस बाजे पर एकाकी

व्यक्ति द्वारा गाये जाने वाले गीत ही लिरिक कहलाते थे । अंग्रेजी "लिरिक" काव्य का उद्भव इन्हीं गीतों से हुआ । भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में तो गीत का महत्व और भी अधिक है, प्राचीनकाल में गीत शैली का विकास दो विभिन्न दिशाओं में हो चुका था, जिसके फलस्वरूप काव्य तथा संगीतशास्त्र की प्रतिष्ठा हुई । गेयता का तत्व संगीतशास्त्र में तथा काव्य में अलग-अलग ढंग से विकसित हुआ, काव्य के क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत को तो आश्रय नहीं मिला, किन्तु संगीत रहित काव्य की कल्पना भी संस्कृत के साहित्यकार नहीं कर सकते थे । अत: काव्योचित संगीत का विकास छन्दशास्त्र के रूप में संगीतशास्त्र से कुछ विभिन्नता के साथ हुआ । संगीत रत्नाकर में संगीतशास्त्र[१] के अनुसार संगीत "मार्ग" और "देशी" इस भेद से दो प्रकार का होता है—

गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते ।
मार्गो देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्ग: स उच्यते ।।
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यै: प्रयुक्तो भरतादिभि: ।
देवस्य पुरत: शंभोर्नियताभ्युदयप्रद: ।।
देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम् ।
गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते ।।

इस प्रकार मार्ग संगीत ही शास्त्रीय संगीत होता है । अनेक शास्त्रों और विद्याओं की भांति इसका सम्बन्ध भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि अलौकिक व्यक्तियों से जोड़ा गया है, तथा अन्यान्य शास्त्रों के उद्देश्य के समान इसका उद्देश्य भी मुक्ति की प्राप्ति है, "देशी" संगीत प्रादेशिक रुचि आदि के अनुरूप अनेक प्रकार का होता है, जिसका उद्देश्य जन-मनोरञ्जन मात्र होता है । अत: गीत वाद्य और नृत्य के समवेत रूप को ही संगीत कहते हैं । संगीत दर्पण[२] में भी संगीत के "मार्ग" और "देशी" इन दो भेदों का उल्लेख है —

मार्गदेशीविभागेन संगीतं द्विविधं मतम् ।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च ।।

१- संगीत रत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, श्लोक २१,२२,२३,२४, पृ० सं०१३,१४,१५।
२- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक सं० ३,४,५, पृ० सं० ५, ६ ।

महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम् ।
तच्चदेशस्थया रीत्या यत्स्यात् लोकानुरंजनम् ।।
देशेदेशे तु संगीतं तद्देशीत्यमिधीयते ।

इस प्रकार संगीत के इन तीनों तत्वों में से गीत की बहुत अधिक महिमा बतायी गयी है । यह पशु-पक्षियों से लेकर शिव तक अपना प्रभाव स्थापित किये रहता है । सुर, असुर, यक्ष गन्धर्व आदि सभी गीत में रत हैं । यह गीत अभिमत फल प्रदान करने वाला वशीकरण है । संगीत रत्नाकर में गीत के सर्वव्यापी महत्व एवं प्रभाव का उल्लेख इस प्रकार किया गया है[१]—

गीतेन प्रीयते देव: सर्वज्ञ: पार्वतीपति: ।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशं गत: ।।
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती ।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवा: ।।
अज्ञातविषया स्वादो बाल: पर्यङ्किकागत: ।
रुदन्गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ।।
वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशु: पशु: ।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम् ।।
तस्य गीतस्य माहाऽऽत्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ।।

'शब्दकल्पद्रुमकोश' में भी गीत के महत्व का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-[२]

'गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ।।

१- संगीतरत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, श्लोक २६, २७, २८, २९, ३०, पृ० सं० १६ ।

२- शब्दकल्पद्रुमकोश - पृ० सं० ३३० ।

गीतेन हरिण रङ्गं प्राप्नुवन्त्यपि पक्षिण: ।
क्वादायान्ति फणिन: शिशवो न रुदन्ति च ।।
कृतिचमत्कृतये किमत: परं ।
फणिवरोऽश्वतरो वच प क्षम: ।।
अपि मृतां यदवाय मदालसां ।
मधुरगीतवशीकृतशङ्कर: ।।
परमानन्दविवर्द्धनमभिमतफलं वशीकरणम् ।
सकलजनचित्तहरणं विमुक्तिबीजं परं गीतम् ।।[1]

आशय यह है कि सर्वज्ञ देव पार्वतीपति (शिव) गीत से प्रसन्न होते हैं, गोपीपति कृष्ण भी वंशी की ध्वनि के वश में हो जाते हैं, ब्रह्मा सामगीति में रत हैं, तथा सरस्वती वीणा की मधुर ध्वनि में आसक्त हैं, तो फिर यक्ष गन्धर्व देव और दानव इत्यादि का कहना ही क्या था ? विषयों के आस्वाद से अपरिचित शिशु भी गीत का अमृत-पान कर रोता-रोता प्रसन्न हो जाता है, आश्चर्य है कि गीत पर मुग्ध होकर वन में विचरण करने वाला तृण भोजी मृग शिशु भी अपना प्राण तक न्योछावर कर देता है । इस प्रकार गीत की गरिमा का गान कौन कर सकता है ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का भी यह एक अद्वितीय साधन है । सामगीतिरत से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गीति' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से 'गीत' अथवा 'गान' के अर्थ में किया जाता है । शब्द-कल्पद्रुम कोश में भी गीति का अर्थ गान ही दिया है[1] तथा वहीं पर गीत का लक्षण तथा भेद बताते हुए निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है[2] —

धातुमातुसमायुक्तं गीतमित्युच्यते बुधै: ।
तत्र नादात्मको धातुर्मातुरक्षर सञ्चय: ।।

१- शब्दकल्पद्रुमकोश - द्वितीय भाग, गीति स्त्री, (गै गाने + क्तिन् ।) गानम् पृ० सं० ३३२ ।

२- शब्दकल्पद्रुमकोश - द्वितीय भाग, पृ० सं० ३२९, ३३० ।

गीतञ्च द्विविधं प्रोक्तं यन्त्रगात्रविभागत: ।
यन्त्रं स्याद्वेणुवीणादि गात्रन्तु मुखजं मतम् ।।

अपि च

निबद्धमनिबद्धञ्च गीतं द्विविधमुच्यते ।
अनिबद्धं भवेद्गीतं वर्णादिनियमं विना ।।
यद्वा गमकधातुभिरनिबद्धं विना कृतम् ।
निबद्धञ्च भवेद्गीतं तालमानरसाञ्चितम् ।।
छन्दो गमकधातुश्चवर्णादिनियमै: कृतम् ।।

इस प्रकार गीत धातु तथा मातु तत्वों से युक्त होता है, धातु नादतत्व तथा मातु अक्षरसञ्चय का नाम है । `यन्त्र` और `गात्र` इस भेद से गीत दो प्रकार का होता है । वेणु वीणा आदि यन्त्र है तथा मुख से उत्पन्न गीत गात्र है, इसके अतिरिक्त गीत के दो अन्य भेद हैं -- निबद्ध और अनिबद्ध । निबद्ध गीत तालमान तथा रस पर आश्रित होता है, तथा अनिबद्ध छन्द अक्षर ताल आदि के नियमों से मुक्त होता है ।

इस प्रकार आधुनिक शब्दावली में `यंत्र` को इंस्ट्रूमेण्टल तथा `गात्र` को वोकल कहा जाता है, इसी प्रकार से निबद्ध को शास्त्रीय संगीत और अनिबद्ध को सुगम संगीत कह सकते हैं । निबद्ध गीत के लक्षण में `तालमान` `रसाञ्चित` और `छन्दोगमक` वर्णादि नियम ध्यान देने योग्य है, तालमान के अतिरिक्त अन्य दो विशेषताएं संस्कृत काव्य में भी समान रूप से दृष्टिगोचर होती है । रस उसका जीवन है, तो वर्णादि नियमों के आधार पर निबद्ध छन्द उसका परिधान है । आशय यह है कि यदि संस्कृत में किसी कविता को तालमान के अनुसार गाया जा सके तो वह गीत की संज्ञा पा सकती है, ऐसे उदाहरण उपलब्ध है, यथा अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रस्तावना में -

`तवाऽस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृत:[१] ।

१- अभिज्ञानशाकुन्तल - प्रथम अङ्क की प्रस्तावना, श्लोक ५, पृ० सं० १५ ।

यह कह कर सूत्रधार ने जिस गीत की प्रशंसा की है, वह इस प्रकार है —

ईषदीषच्चुम्बिआइं भमरेहिं उह सुउमारकेसरसिहाइं ।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥[1]

इसी प्रकार पञ्चम अंक के अन्तर्गत यह प्रसङ्ग भी उल्लेखनीय है ।

विदु - । कर्णं दत्वा । भो वयस्य । सङ्गीतशालाभ्यन्तरे कर्णं देहि, तालव्यञ्जदाया वीणायाः स्वरसंयोगः श्रूयते । जाने तत्रभवती हंसवती वर्णपरिचयं करोतीति ।

राजा - तुष्णीम्भव, यावदाकर्णयामि ।[2]

अभिनवमधुलोभभावितस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर । विस्मृतोऽसि स्वां कथम् ॥[3]

राजा - अहो । रागपरिवाहिणी गीतिः ।[4]

इस प्रकार प्रथम उदाहरण में जिस प्रकार की रचना को गीत बताया है, ठीक उसी प्रकार की रचना को दूसरे उदाहरण में गीति कहा गया है । राग का सम्बन्ध भी दोनों से ही बताया गया है, दूसरे उदाहरण में स्वर संयोग का भी उल्लेख है, किन्तु स्वरसंयोग राग से व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत कवियों एवं आचार्यों ने काव्य गीत और गीति में कोई विशेष भेद नहीं माना है । नाटकों में गीत के नाम पर भावमयी छन्दोबद्ध

१- अभिज्ञानशाकुन्तल - प्रथम अङ्क की प्रस्तावना, श्लोक ४, पृ० सं० १३ ।

२- अभिज्ञानशाकुन्तल - पञ्चम अङ्क, पृ० सं० ३६२, ३६३ ।

३- अभिज्ञानशाकुन्तल - पञ्चम अङ्क, श्लोक संख्या ८, पृ० सं० ३६४ ।

४- अभिज्ञानशाकुन्तल - पञ्चम अङ्क, पृ० सं० ३६५ ।

रचनाएं ही समाविष्ट की गयी है । छन्दशास्त्र में गीत आर्या जाति का एक विशेष प्रकार का मात्रिक छन्द स्वीकार किया गया है जो गीति, उपगीति, आर्यागीति और उद्गीति भेद से चार प्रकार का होता है । आर्या का उत्तरार्ध भी जब पूर्वार्ध के सदृश हो तो गीति कहलाता है, पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध के व्यत्यय से उद्गीति, आर्या के अन्त में एक गुरु और एक लघु बढ़ा देने से आर्यागीति और आर्या के उत्तरार्ध के ही समान पूर्वार्ध भी होने पर उपगीति छन्द होता है[1]। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में भी गीति शब्द एक विशेष प्रकार के गान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, गान्धर्व के स्वरात्मक, तालात्मक और लयात्मक भेदों के अन्तर्गत गान्धर्व की इक्कीस विधियों में से एक गीति भी होती है[2]। नाट्यशास्त्र में जिसके अनेक भेद-प्रभेद माने गये हैं[3]—

प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी ।
सम्भाविता तृतीया च चतुर्थी पृथुला स्मृता ।।
भिन्नवृत्तिगीता या सा गीतिर्मागधी मता ।
अर्धकालनिवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी ।।
सम्भाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता ।
लघ्वक्षरकृता नित्या पृथुला संप्रकीर्तिता ।।
एतास्तु गीतयो ज्ञेया ध्रुवायोगं विनैव हि ।
गान्धर्व एव योज्यास्तु नित्यं गानयोक्तृभिः ।।

इस प्रकार गेय रचना के बाह्य रूप का गठन ही इस भेद विभाग का कारण

१- वृत्तरत्नाकर - अध्याय २, गीतिप्रकरण ।

२- नाट्यशास्त्र - २८ वां अध्याय का १२, १६, श्लोक, पृ० सं० ३१७

३- नाट्यशास्त्र- २९ वां अध्याय का श्लोक ७७, ७८, ७९,८०, पृ० सं० ३३९

प्रतीत होता है। यह "सम्भाविता" गीति के गुर्वदार सम्मित तथा "प्रवृत्ता" के लघ्वदारकृत होने से ही प्रकट है। अंग्रेजी के विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) से ज्ञात होता है कि गीति के रूप में काव्य का स्वतन्त्र प्रकार विलियम वेब नामक विद्वान् ने सन् १५८६ ई० में किया।[१] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्य विभाग के रूप में गीति का नाम युरोप में उस समय सुनाई पड़ा था जब संस्कृत में काव्यशास्त्रीय विवेचन चरमोत्कर्ष पर पहुंचकर रुक सा गया था, किन्तु जब अंग्रेजी साहित्य के साथ यह भारत में आया तब तक संस्कृत काव्य का सर्जन भी प्राय: बन्द सा ही हो गया था। यदि ऐसा न भी हुआ होता तो संस्कृत के आचार्य गीति की आधुनिक परिभाषा स्वीकार करते, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे वैयक्तिकता के स्थान पर साधारणीकरण के ही पक्षपाती रहे हैं। इस प्रकार भेद में अभेद तथा समष्टि में व्यष्टि का दर्शन भारतीय दर्शन और साहित्य की विशेषता रही है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि संस्कृत साहित्य में आधुनिक अर्थ में गीतिकाव्य कही जा सकने वाली रचनाओं का जिनमें आत्मनिष्ठता, गेयता और स्वत: स्फुरित सहज अनुभूति हो सर्वथा अभाव है। ऋग्वेद में ही इस प्रकार की कुछ रचनाएं खोजी जा सकती हैं। स्तोत्र साहित्य में कवि की आत्मनिवेदन परक उक्तियों के सुन्दर उदाहरण अनेकत्र भरे पड़े हैं। किन्तु संस्कृत गीतिकाव्य को आधुनिक गीति की कसौटी पर कसने का अर्थ है उसके व्यापक क्षेत्र को संकीर्ण बना देना, तथा इससे भी बड़ी विषमता यह है कि ऐसा करना मनोवैज्ञानिक भी नहीं है। इस प्रकार केवल पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार कर संस्कृत साहित्य के किसी भी अङ्ग की समीक्षा उपहासास्पद है। संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनिपरक काव्य को उत्तम माना गया है, तथा उसमें भी असंलक्ष्यक्रम ध्वनि रूप रस को अधिक महत्व दिया गया है, अत: आत्मनिष्ठता के स्थान पर रसनिर्भरता को ही प्रमुख तत्व मानना होगा।

---

१. The earliest English critic who enters into a discussion of the laws of Prosody' William Webbe, lays it down, in 1586, that in verse. "the most usual kinds are four, the heroic, elegiac, iambic and lyric."

पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृत गीतिकाव्य का अध्ययन इसी दृष्टि से करना उचित समझा तथा इसी आधार पर उन्होंने अमरुकशतक, भामिनीविलास आदि को गीतिकाव्य के अन्तर्गत माना है । यदि ऐसा न करते तो वह अमरुकशतक जैसी उच्चकोटि की रचना को उसमें स्थान न दे पाते, अतः गीतिकाव्य के अध्ययन के लिये इसी व्यापक दृष्टि को अपनाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है । अतएव उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अमरुक आदि को गीतिकाव्य के अन्तर्गत मानने का प्रयास किया है, वह अनुचित है ।

(ख) गीतिकाव्य की परम्परा—

संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीनतम् है । काव्य जीवन का अन्तर्दर्शन और उसकी रागात्मक अभिव्यक्ति है । आदिम जीवन के प्रारम्भिक युगों में मानवता की सुख-दुःखानुभूति वाणी के प्रसार, संकोच एवं भङ्गिमा के अतिरिक्त और किसी रूप में अभिव्यक्त नहीं होती, पशु-पक्षी तक में अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता है । आनन्द के कारण जिस प्रकार मानव में आत्मप्रसार का भाव जागृत होता है, उसी प्रकार पशु पक्षी में भी, वाणी अथवा अन्य माध्यमों द्वारा मनुष्य ने अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को स्थायित्व देने की चेष्टा की है । यह सर्वविदित है कि क्रौञ्चवध कातर क्रौञ्ची की करुण पुकार के कारण ही आदि कवि वाल्मीकि की विगलित करुणा अनुष्टुप छन्दों में इस प्रकार फूट पड़ी थी[1]:-

मा । निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक में वाल्मीकि का अभिनन्दन करते हुए कहा है कि - 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।'[2] इसी प्रकार

१- वाल्मीकि रामायण - बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग, श्लोक संख्या १५, पृ०सं० ११ ।
२- ध्वन्यालोक - प्रथम उद्योत, कारिका ५, पृ० सं० ८५ ।

महाकवि कालिदास ने भी 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक: ।'[1] कहकर इसका उल्लेख किया है ।

इस प्रकार क्रौंची में स्वभावत नैसर्गिक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति थी, उस अभिव्यक्ति में जो संवेदनशीलता थी, वह वाल्मीकि का अन्तर छू सकी । छन्द, लय, ताल, स्वरैक्य और मेल तारतम्य और सन्तुलन का विधान सहज शक्ति की सीमा की परिधि में घेर रखने का प्रयास है, जिसके द्वारा मनुष्य ने देश काल की परिधि के अतिक्रमण की चेष्टा की है । इस प्रकार कला-कविता जिसका एक अंग है, मानवीय सन्तुलन प्रिय बुद्धि का फल है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्याकरण भाषा को नियमित करने के प्रयास का फल है, उसी प्रकार सभ्यता, संस्कृति, आचार, नीति, धर्म, आदि सामूहिक चेतना को घेरे में बांधने के उपक्रम हैं, विवश मानव मन में परिस्थितियों के कारण सुख-दु:ख, क्रोध, आक्रोश, आशा निराशा, उत्साह, उल्लास के क्षोभ उत्पन्न होते रहते हैं, तथा उसकी अभिव्यक्ति उल्लासपूर्ण आवेश, करुणाचीत्कार अथवा शोक श्वास अश्रु द्वारा होती रही है, इस अभिव्यक्ति को सौन्दर्यिक चेतना का आवेश और स्थायित्व देने का प्रयास कला द्वारा होता है । इस प्रकार कला स्वाभाविक अनुभूतियों की कृत्रिम माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति है । इसी प्रकार हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि पन्त की निम्न पंक्ति भी इस प्रकार है[2]—

> 'वियोगी होगा पहिला कवि,
> आह से उपजा होगा गान,
> उमड़ कर आंखो से चुपचाप
> बही होगी कविता अनजान ।'

इस प्रकार देश, काल और भाषा की दृष्टि से महान अन्तर होते हुए भी इन सभी उक्तियों में एक समान तत्व की ओर संकेत किया गया है, वह है करुण भाव ।

१- रघुवंश- `कालिदास' - चौदहवां सर्ग, श्लोक ७०, पृ० सं० ३०७ ।

२- आधुनिककवि - सुमित्रानन्दन पंत, पृ० सं० १५, 'आंसू कविता से उद्धृत ।'

महाकवि कालिदास ने भी 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।'[1] कहकर इसका उल्लेख किया है ।

इस प्रकार क्रौंची में स्वभावज नैसर्गिक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति थी, उस अभिव्यक्ति में जो संवेदनशीलता थी, वह वाल्मीकि का अन्तर छू सकी । छन्द, लय, ताल, स्वरैक्य और मेल तारतम्य और सन्तुलन का विधान सहज शक्ति को सीमा की परिधि में घेर रखने का प्रयास है, जिसके द्वारा मनुष्य ने देश काल की परिधि के अतिक्रमण की चेष्टा की है । इस प्रकार कला-कविता जिसका एक अंग है, मानवीय सन्तुलन प्रिय बुद्धि का फल है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्याकरण भाषा को नियमित करने के प्रयास का फल है, उसी प्रकार सभ्यता, संस्कृति, आचार, नीति, धर्म, आदि सामूहिक चेतना को घेरे में बांधने के उपक्रम हैं, विवश मानव मन में परिस्थितियों के कारण सुख-दुःख, क्रोध, आक्रोश,आशा निराशा, उत्कर्ष, उत्साह के क्षोभ उत्पन्न होते रहते हैं, तथा उसकी अभिव्यक्ति उल्लासपूर्ण आवेश, करुणचीत्कार अथवा निःश्वास अश्रु द्वारा होती रही है, इस अभिव्यक्ति को सौन्दर्यिक चेतना का आवेश और स्थायित्व देने का प्रयास कला द्वारा होता है । इस प्रकार कला स्वाभाविक अनुभूतियों की कृत्रिम माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति है । इसी प्रकार हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि पन्त की निम्न पंक्ति भी इस प्रकार है[2]—

'वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आंखो से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान ।'

इस प्रकार देश, काल और भाषा की दृष्टि से महान अन्तर होते हुए भी इन सभी उक्तियों में एक समान तत्व की ओर संकेत किया गया है, वह है करुण भाव ।

१- रघुवंश- 'कालिदास' - चौदहवां सर्ग, श्लोक ७०, पृ० सं० ३०७ ।

२- आधुनिककवि - सुमित्रानन्दन पंत, पृ० सं० १५,
'आंसू कविता से उद्धृत ।'

जिसे संस्कृत के कवियों ने ~~कविता ने~~ कविता की शैली में गीत और पन्त ने कविता और गीत दोनों के प्रादुर्भाव का मूल कारण माना है । शोक कदाचित् मन को अभिभूत करने वाली वृत्तियों में सबसे अधिक प्रबल है, इसीलिए भवभूति ने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में उत्तररामचरित के इस प्रख्यात पद में दी है जो इस प्रकार है — एको रस: करुण एव निमित्तभेदाद् ।[१]

इस प्रकार गीतिकाव्य का आधार मात्र संगीतात्मक होना नहीं, छन्द व्यवस्था किसी न किसी रूप में संगीतात्मकता का आग्रह स्वीकार करती है । पाश्चात्य संगीत के विधान की सीमाओं के कारण गीतिकाव्य के लिये संगीतात्मकता अपेक्षित है । वाल्मीकि रामायण गेय है, लव कुश ने राम के समक्ष उसका सस्वर गान किया था । इसी प्रकार कालिदास ने मेघदूत में वैयक्तिक हर्ष शोक की अभिव्यंजना की है, इसके आधार रूप में आख्यान का आग्रह भी कम नहीं है, इस कारण इसमें गीतिकाव्य और आख्यान काव्य के तत्वों का सम्मिश्रण है । मन्दाक्रान्तामें एक ओर विषाद की जहां गम्भीर अभिव्यंजना हुई है, वहां कथानक के विकास में विरोध भी उत्पन्न हुआ है । इस मिश्रण के द्वारा इसमें 'लिरिकल बैलड' अर्थात भावात्मक लोकगीत का आग्रह अधिक है ।

जिस प्रकार लोकगाथाओं एवं कथानकों का साहित्यिक रूप प्रबन्धकाव्यों एवं रूपकों मे प्रकट हुआ है उसी प्रकार व्यक्तिगत हर्ष, शोक, आशा-निराशा, राग-द्वेष, आवेग, भावुकता से परिपूर्ण लोकगीतों का साहित्यिक रूप गीतिकाव्यों में है, लोकगीत ही इन साहित्यिक गीतों और गीतियों के अविकसित रूप है, इन लोकगीतों ने जहां महाकाव्यों में वैयक्तिकता एवं अन्तर्दर्शन का प्रवेश दिया वहां स्वतन्त्र गीतिकाव्यों की रचना को उन्मेष भी ।

जयदेव के गीतगोविन्द के गीतों की गणना अनेक लोग गीतिकाव्य के अन्तर्गत करते हैं । गीत और गीतिकाव्य में कलात्मकता के अतिरिक्त और भी अन्तर है, गीत में एक ओर जहां संगीत के निर्वाह का अधिक आग्रह है, वहां

१- उत्तररामचरित - तृतीय अंक, श्लोक, ४७, पृ० सं० २०६ ।

आत्मानुभूति की अभिव्यञ्जना से अधिक वर्णन मोह भी । गीत इस रूप में अपने पूर्व रूप लोकगीत से अलग है, जयदेव के गीतों के लिये ताल और राग का विधान है । यद्यपि शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से उसकी रचना सर्वत्र सम्भव न हो सकी, किन्तु फिर भी गीतगोविन्द की रचना बहुत नाटकीय ढंग पर हुई है, अथवा उसमें नाटकीय दृश्यों का समावेश हुआ है । यद्यपि पात्र-पात्रियों की संख्या कुल तीन है, कृष्ण राधा और सखी । यह गीतिकाव्य और गीतिनाट्य के मध्य की रचना है ।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में शुद्ध गीतिकाव्य का अभाव सा है, और लोकगीतों का प्रभाव उस पर परोक्ष रूप से पड़ा है । प्रारम्भिक कथाओं के आधार पर आख्यान काव्य बने, किन्तु वैयक्तिक भावना के प्रसार के अधिक अनुकूल न होने के कारण लोकगीतों की परम्परा में साहित्यिकता का आग्रह लाकर नये रूप विधान की सृष्टि हुई और उसका विकास वैयक्तिक भाव अनु तत्व से युक्त आख्यान काव्य और स्वतन्त्र गीतों के रूप में हुआ और इन गीतों की परम्परा में क्रमशः गीतिकाव्य का विकास हुआ ।

इस प्रकार गीतिकाव्य के प्रस्तुत विवेचन के पश्चात अब यह उल्लेखनीय है कि गीतिकाव्यों की इसी परम्परा से समुत्पन्न तथा सपरिपुष्ट रागकाव्यों की क्या परम्परा थी तथा साहित्य के शास्त्रीय परिवेश में अविवेचित होकर भी उनका क्या स्वरूप एवं आधार था ।

(ब) रागकाव्य का स्वरूप एवं आधार--

संस्कृत भाषा का प्राचीन वाङ्मय काव्य, नाटक, व्याकरण, साहित्यालोचन तथा उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक ग्रन्थों से अत्यन्त सुसमृद्ध है । रागकाव्य में सम्पूर्ण कथा को गेय पदों में प्रस्तुत किया जाता है । संस्कृत के रागकाव्यों में संगीत से सम्बन्धित रागों, तालों का प्रयोग होने के कारण रागकाव्य की संज्ञा दी गयी है । आशय यह है कि गीतविधा में लिखित काव्यों की संज्ञा रागकाव्य है, अतएव गीतकाव्य न कहकर रागकाव्य ही कहना चाहिये ।

गै धातु से भाव में क्त प्रत्यय करके गीत शब्द बनता है, 'गीयते इति गीतम्'[1]। अमरकोष के रचयिता ने गीत और गान शब्द को समानार्थक माना है -'गीतं गानमिमेसमे'[2]। भट्ट श्री हलायुध ने भी - 'अभिधानरत्नमाला' में गीत और गान शब्द को पर्याय स्वीकार किया है -'गीतं गानमिति प्रोक्तं'[3]। इस प्रकार चिरकाल से लेकर आजतक यह शब्द अपठित साधारण जन से लेकर साहित्य के प्रकाण्ड पंडितों के द्वारा भी गान के अर्थ में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। कालिदासादि महाकवियों ने भी गीत शब्द का प्रयोग गान के अर्थ में ही किया है 'आर्ये। साधु गीतम्। तवाऽस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृत:'[4]। इसी शब्द में सम् उपसर्ग लगाकर के ही 'संगीत' शब्द बनता है। गीत और संगीत शब्द के अर्थ में भेद है, वाद्य और नृत्य के साथ गीत को संगीत कहते हैं - 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।'[5]

आचार्य वात्स्यायन ने गीत को चौसठ कलाओं में स्थान दिया है, जो[6] इस प्रकार है—

गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्यम्, तण्डुलकुसुमबलिविकारा पुष्पास्तरणम्, दशनवसनाङ्गरागः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकाघातः, चित्राश्च योगाः, माल्यग्रथनविकल्पाः, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगाः, कर्णपत्रभङ्गाः, गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः, कौचुमाराश्च योगाः, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजनम्,

---

१- शब्दकल्पद्रुमकोश - पृ० सं० ३२६।

२- अमरकोष - प्रथमकाण्ड, श्लोक २५, पृ० सं० ६२।

३- अभिधानरत्नमाला-प्रथमकाण्ड, श्लोक ६३, पृ० सं० ११।

४- अभिज्ञानशाकुन्तल - प्रथम अंक की प्रस्तावना, श्लोक ५, पृ० सं० १५।

५- संगीतरत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, श्लोक २१, पृ० सं० १३।

६- कामसूत्र - अधिकरण -१, अध्याय - ३, पृ० सं० ८३, ८४।

सूचीवानकर्माणि, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरुकवाद्यानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगा:, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेत्रवानविकल्पा:, तक्षकर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद:, मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगा:, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छितविकल्पा:, देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, संपाठ्यम्, मानसी, काव्यक्रिया, अभिधानकोष:, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्प:, छलितकयोगा:, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषा:, आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनकानि, वैनयिकीनां वैजयिकीनां व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम् इति चतु:षष्टिरङ्गविद्या: ।

भारतीय इतिहास के आरम्भ और मध्यकाल में नागरिकों की गोष्ठी और परिषदों में, नृत्यकला तथा काव्यचर्चा के प्रति अत्यधिक रुचि पायी जाती थी । वात्स्यायन के `कामसूत्र`, दण्डी के `दशकुमारचरित`, बाणभट्ट के `हर्षचरित` एवं कादम्बरी में इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है । वास्तव में संगीत नागरिक जीवन विलास का एक अंग ही था, इसके बिना मानव शिष्ट और सुसंस्कृत समाज में आदर एवं सम्मान का अधिकारी नहीं समझा जाता था, यही नहीं ~~अनन्तकाल के प्रोफेसर~~ भर्तृहरि ने इसके न जानने वालों को पुछ और सींग से रहित पशु कहा है[१]—

`साहित्यसंगीतकलाविहीन: साक्षात् पशु: पुच्छविषाणहीन: ।`

वैदिक ऋषियों को भी संगीत का अच्छा ज्ञान था । ऋग्वेद के बहुत से मंत्र संगीततत्व से पूर्णरूपेण ओतप्रोत है । इन मंत्रों में गेयपदों के समान वैदिक मंत्रों में पदवृत्ति पायी जाती है जो इस प्रकार है—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति । कुवित्सोमस्यापामिति ।।
प्र वाताइव दोधत उन्मा पीता अयंसत । कुवित्सोमस्यापामिति ।।

१- भर्तृहरि शतक - नीतिशतक, श्लोक १२, पृ० सं० ८ ।

उन्मा पीता अयंसत रथमश्वाइवाशव: । कुवित्सोमस्यापामिति ।।
उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम् ।कुवित्सोमस्यापामिति ।।
अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम् ।कुवित्सोमस्यापामिति ।।[1]

तथा —

हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवा: ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्यु: कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद: कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु: ।
यस्येमा: प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।[2]

इस प्रकार मंत्रों को पढ़ने के लिये उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन तीन स्वरों का प्रयोग किया जाता है । वैदिककाल में आर्यगण इन ऋचाओं को गा गाकर पढ़ते थे । ऋग्वेद के मंत्र की तुलना में सामवेद के मंत्रों में गीत तत्व अधिक है, इसी से यह वेद आर्चिक और गेय, इन दो भागों में विभक्त है । गेय भाग को यज्ञ के समय उद्गाता गण मधुर स्वर से गाते थे । सामवेद में दुन्दुभि, स्कन्दवीणा, वीणा, आदि वाद्ययन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

समयानुसार संगीत को शास्त्र का रूप प्रदान किया गया । संस्कृत भाषा में इस विषय पर विद्वानों ने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे, उनमें से कुछ ग्रन्थ विनष्ट हो गये एवं कुछ शेष हैं । अतएव शास्त्रीय गायन के प्रेमी पण्डितों की मण्डली में आज भी राजकुमार जगदेकमल्ल का `संगीत चूड़ामणि`, महाराज हरपाल का

१- ऋग्वेदसंहिता - अष्टमोष्टक, म० १० अ, १० सू० ११९, मंत्र संख्या १, २, ३, ४, ५, पृ० सं० ७७३, ७७४ ।

२- ऋग्वेदसंहिता - अष्टमोष्टक, म० १० अ० १०, सू० १२१, मंत्र संख्या १, २, ३, ४, पृ० सं० ७८१, ७८२ ।

`संगीत सुधाकर`, सोमराजदेव का `संगीतरत्नावली`, शार्ङ्गदेव का `संगीत-रत्नाकर`, बल्लराज का `रसतत्वसमुच्चय`, पार्श्वदेव का `संगीत समयसार`, भुवनानन्द का `विश्वप्रदीप`, महाराणा कुम्भा का `संगीतराज`, ग्रन्थ लोकप्रिय है।

इस प्रकार इन ग्रन्थों की लेखनप्रणाली अलंकार, छन्द और नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से भिन्न है। संगीत से सम्बन्धित स्वर, ताल, लय, मूर्च्छना, ग्राम राग आदि का विवेचन, विश्लेषण एवं लक्षण तो प्राप्त है, परन्तु अलंकार, छन्द, नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों के समान उदाहरण देकर प्रत्येक विषय को इन ग्रन्थों में समझाया नहीं गया है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार धनंजय के `दशरूपक` और विश्वनाथ के `साहित्यदर्पण` के छठे परिच्छेद में नाट्यविषयक सम्पूर्ण बातों को लक्षण के साथ उदाहरण देकर स्पष्टीकरण किया गया है, वह सम्पूर्ण पद्धति इन ग्रन्थों में नहीं है। सम्भवत: इन संगीतग्रन्थों में उल्लिखित लक्षण के अनुसार उदाहरण संस्कृत में न होकर तत्कालीन देश-भाषाओं में रहे हों, इसी से ग्रन्थकारों ने उदाहरण नहीं दिया।

यूनानी साहित्यकारों ने कविता को संगीत के अन्तर्गत माना है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अनुसार उसके विभिन्न भेद हैं, प्रकृति सम्बन्धी, धर्म-सम्बन्धी, प्रेमसम्बन्धी, चतुर्दशपदी, स्तुति सम्बन्धी, दार्शनिक गीत, शोकगीत आदि हैं। भारतीय अलंकारशास्त्र के आचार्यों के मत में गीतकाव्य की कोई स्थिति नहीं है। भामह, वामन, दण्डी, रुद्रट, मम्मट, आनन्दवर्धन, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न भेद और उपभेदों का वर्णन करते समय गीतकाव्य शब्द का प्रयोग एवं गीतात्मक कृतियों का विवेचन नहीं किया, इसका मुख्य कारण यह हो सकता है कि वात्स्यायन आदि आचार्यों ने गीत को काव्य से भिन्न कला की अन्य विधा स्वीकार की थी, इससे साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने यह समझा कि गीत और गीतात्मक कृतियों के विवेचन विश्लेषण का काम कला विवेचक ग्रन्थों का है, इसी से भारतीय साहित्य शास्त्र के आचार्यों ने इस प्रकार की चर्चा काव्य-विवेचन के प्रसंग में नहीं की। भरत के

नाट्यशास्त्र में 'छन्दोगीतकम्' और 'गेयपदम्' का प्रयोग प्राप्त होता है -

छन्दोगीतकमासाद्य त्वङ्गानि परिवर्तयेत्।[1]

आसने चोपविष्टायां तन्त्रीभाण्डोपबृंहितम् ।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद् गेयपदमुच्यते ।।[2]

पाश्चात्य संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखक कीथ आदि मनीषियों ने अपने इतिहास ग्रन्थों में गीतकाव्य का विवेचन और विश्लेषण किया है, वह पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार ठीक है, परन्तु इन इतिहास लेखकों से प्रभावित होकर भारतीय संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखकों ने कालिदास के मेघदूत,[3] पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनीविलास', अमरूशतक, भर्तृहरिशतक प्रभृति रचनाओं को गीतकाव्य कहा है, यह उचित नहीं है क्योंकि इसे यदि भारतीय संगीतशास्त्र के अध्ययन की अल्पता एवं साहित्यशास्त्र की परम्परा की अनभिज्ञता कहा जाय तो अनुचित न होगा ।

संगीतशास्त्र के नियम के अनुसार गेयपद में ध्रुवपद का होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है,[4] जिसे वर्तमान काल के संगीतज्ञ 'टेक' कहते हैं ।

न विवेकं विना ज्ञानं, ध्यानं नात्र रसं विना ।
श्रद्धया न विना दानं, न गानं ध्रुवकं विना ।।

१- नाट्यशास्त्र, अध्याय ३, श्लोक संख्या ३००, पृ० सं० ५० ।

२- नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, श्लोक संख्या १४०, पृ० सं० २३७ ।

३- संस्कृत के गीतकाव्यों का आदिग्रन्थ महाकवि कालिदास का मेघदूत है ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय, पृ० सं० ३२५,
संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : श्रीचन्द्रशेखर पाण्डेय, श्री शान्तिकुमार नानूराम व्यास, पृ० सं० २६६ ।

४- रागार्णव नामक ग्रन्थ से हिन्दी साहित्यकोश में उद्धृत - पृ० सं० २७५ ।

इस प्रकार इसके बिना कोई भी पद 'गेयपद' की कोटि में नहीं आ सकता । क्या 'मेघदूत', 'अमरुशतक', धोयी का 'पवनदूत', बिल्हण की 'चौरपंचाशिका', गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' आदि काव्यों में संगीतशास्त्र के ध्रुवक का तथा अन्य नियमों का पालन किया गया ? यदि नहीं तो फिर इन कृतियों को गीत-काव्य की कोटि में क्यों रखा जाता है ? इसे भारतीय संगीतशास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ पाश्चात्य इतिहास लेखकों का अन्धानुकरण ही कहना चाहिये।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भारतीय साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने स्वर ताल, लयबद्ध गीतात्मक सरस कृतियों को काव्य के किसी भेद अथवा उपभेद की कोटि में नहीं रखा है तो कवि कोकिल जयदेव की विश्वप्रसिद्ध कृति 'गीतगोविन्द' की साहित्य-जगत में क्या स्थिति थी ? क्या गीतात्मक रचनाएं काव्य की किसी विधा के अन्तर्गत नहीं आती थी ? गीतात्मक शैली में लिखित कृतियों के लिये प्राचीनकाल में शास्त्रीय शब्द क्या था ? इन सब प्रश्नों पर भी संक्षेप में इस प्रसंग में विचार कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा ।

अभिनवगुप्त ने भरत नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती' में गीत शब्द की व्युत्पत्ति गीयते इति 'गीतं काव्यं'[1] लिखकर गीत और काव्य में कोई अन्तर नहीं माना है, प्रकारान्तर से उन्होंने गीत शब्द को काव्य का पर्यायवाची स्वीकार कर लिया है, इसी टीका में अभिनवगुप्त ने गीत विधा में लिखित काव्यों की संज्ञा रागकाव्य दी है[2] -

> अथोच्यते राघवविजयादि रागकाव्यादिप्रयोगो नाट्यमेव ।
> अभिनययोगात् ।

यही नहीं ठक्क और ककुभराग में गाये जाने वाले 'राघवविजय' और मारीचवध नामक दो रागकाव्यों का उल्लेख भी किया है । ये काव्य - 'राघवविजयमारीच-वधादिकं रागकाव्यम् ।

१- नाट्यशास्त्र, अध्याय ४, पृ० सं० १८०

२- नाट्यशास्त्र, अध्याय ४, पृ० सं० १७२ ।

तथा हि राघवविजयस्य हि ढक्करागेणैव विचित्रवर्णनीयत्वेऽपि निर्वाहः । मारीचवधस्य ककुभग्रामरागेणैव । अतएव रागकाव्यानीत्युच्यन्ते एतानि ।[1]

नृत्य प्रधान और अभिनयात्मक थे, इनका अभिनय गाकर किया जाता था, इसी से इन्हें रागकाव्य कहा है । रागकाव्यों के इस अस्तित्व को अङ्गीकार कर लेने पर यह भी सिद्ध हो जाता है, कि जयदेव के पहले इस प्रकार के रागकाव्यों के लिखने की अपनी परम्परा थी, जयदेव का 'गीतगोविन्द' काव्य उसी परम्परा का प्रतीक है, न कि अपभ्रंश में लिखित गीतकाव्य का । अतः संस्कृत साहित्य के कतिपय इतिहास लेखकों की यह विचारधारणा कि 'भारतीय साहित्य में इस अनुपम रचना शैली का सूत्रपात सर्वप्रथम जयदेव के 'गीतगोविन्द' से दिखाई पड़ता है, यह अवधारणा भ्रान्तिमूलक प्रतीत हुई ।

अभिनवगुप्त ने इन रागकाव्यों को नाट्य की कोटि के अन्तर्गत माना है । अतः संस्कृत के साहित्यवेत्ता कुछ पाश्चात्य मनीषीगण जयदेव के 'गीतगोविन्द' को गोपनाट्य[2] अथवा गीतिनाट्य[3] आदि की कोटि में स्थान देते हैं । कुछ विदेशी

१- नाट्यशास्त्र - अध्याय ४, पृ० सं० १८१, १८२ ।

२- जयदेव की यह कविता एक छोटा-सा गोपनाट्य है, जैसा कि जोन्स का मत है, या एक गीति-नाट्य है, जैसा कि लासेन का कहना है, या एक परिष्कृत यात्रा है, जैसा कि फान श्रेडर इसका नामकरण करना पसन्द करते हैं ।
-संस्कृत साहित्य का इतिहास : कीथ, पृ० सं० २३१ ।

३- जयदेव ने उक्त काव्य को सर्गों में विभक्त किया है, यह इस बात का स्पष्ट चिह्न है कि उन्होंने इसे सामान्य काव्य की कोटि का माना है । अंकों और विष्कम्भकादि में विभक्त करके इसे नाटकीय प्रयोग बनाने का उनका विचार नहीं था ।

—संस्कृत साहित्य का इतिहास : कीथ, पृ० सं० २३२ ।

तथा भारतीय विद्वान[१] इस मत का विरोध करते हैं । इस प्रकार अभिनवगुप्त के उक्त साक्ष्य से इसके विरोध का कोई औचित्य नहीं है । अत: प्रस्तुत गीतात्मक कृतियों को काव्यविधा के अन्तर्गत मान लेना चाहिये और उसे गीतकाव्य न कहकर रागकाव्य कहना चाहिये । गीतगिरीश, गीतगौरीपति आदि रागकाव्य उसी परम्परा का है ।

-०-

१- किन्तु जयदेव ने 'गीतगोविन्द' को सर्गों में विभाजित किया है । अत: उन्हें अपनी कृति का 'काव्य' के अन्तर्गत ही समावेश इष्ट था ।

- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : चन्द्रशेखर पाण्डेय, पृ० सं० ३३४ ।

द्वितीय अध्याय

रागकाव्य का स्वरूप विवेचन - खण्डकाव्य एवं गीतिकाव्य से अन्तर

(क) रागकाव्य का स्वरूप तथा संगीत से सम्बन्ध

(ख) संगीत की शास्त्रीय रूपरेखा

[अ] संगीत के आधार

(१) नाद

(२) श्रुति

(३) स्वर

(४) ग्राम

(५) मूर्च्छना

(६) तान

(७) सप्तक

(८) वर्ण

(९) अलंकार

(१०) पकड़

(११) जाति

(१२) मेल या थाट

[ब] राग-शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

[स] राग के सहयोगी तत्व

(१) ताल

(२) लय

(३) ध्रुवक या टेक

(४) प्रबन्ध

(ग) रागकाव्य का खण्डकाव्य से अन्तर

(घ) रागकाव्य का गीतिकाव्य से अन्तर

रागकाव्य का स्वरूप विवेचन— खण्डकाव्य एवं गीतिकाव्य से अन्तर

(क) रागकाव्य का स्वरूप तथा संगीत से सम्बन्ध—

रागकाव्य ऐसी संगीत रचना है, जिसमें सम्पूर्ण कथा को गेयपदों में प्रस्तुत किया जाता है। गीतों में रागों, तालों आदि का मञ्जुल समन्वय होने के कारण उसे रागकाव्य के अन्तर्गत मानते हैं, इसका संगीतमय अभिनय किया जाता है तथा इसके गीत भी गाये जाते हैं। राग-काव्य के स्वरूप के परिज्ञान हेतु संगीत से सम्बन्धित नाद, श्रुति, स्वर,ताल, लय, मूर्च्छना, ग्राम आदि की जानकारी भी आवश्यक है। रागकाव्य में जो गीत होते हैं, उन गीतों में 'ध्रुवक' का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना गया है, जिसे आज के संगीतज्ञ 'टेक' भी कहते हैं। इसके बिना कोई भी पद गेयपद की कोटि में नहीं आ सकता है जोकि संगीत शास्त्र के नियम के अनुसार आवश्यक है।

संस्कृत के रागकाव्यों में कथा की योजना बहुत अल्प होती है। भावों की उद्भावना में ही उनका विस्तार होता है, प्रणय के वियोग में उनका आदि अन्त रहता है। प्रबन्धकाव्य के समान इस काव्य का सम्पूर्ण कथानक एकसूत्रता से आबद्ध रहता है। पाठक को पढ़ते समय कथा भंग का किञ्चित मात्र आभास नहीं होता, इसे कवि-कर्म की कुशलता और उसकी प्रतिभा को चरम परिणति कहना चाहिये। इसके लिये कवि ने मध्य-मध्य में कथायोजक सशक्त छन्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है।

संस्कृत साहित्य में रागकाव्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के रागकाव्यों का प्रबन्धों एवं सर्गों में भी विभाजन हुआ है। प्रस्तुत स्थल पर प्रबन्ध का तात्पर्य उस प्रबन्ध काव्य से भिन्न है। संस्कृत के

गीतवादित्रनृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते ।[1]

अंग्रेजी भाषा में संगीत शब्द का अनुवाद करने में म्यूजिक शब्द का व्यवहार होता है, किन्तु यूरोपीय देशों में म्यूजिक शब्द प्राय: कंठ संगीत "Vocal Music" अथवा वाद्य संगीत "Instrumental Music" के लिये ही व्यवहृत होता है। नृत्य, लास्य, हावभाव तथा ताल (Gesticulation) का अर्थ म्यूजिक शब्द से नहीं निकलता।

किन्तु अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भारतीय संगीत कला में गायन, वादन तथा नर्तन तीनों ही अंगों का समावेश है, तो उसका नाम संगीत ही क्यों पड़ा ? क्योंकि संगीत में गायन कला का संबंध नाभि एवं कंठ से, वादन का उसकी तन्त्रकारी से तथा नृत्य का शरीर की मुद्रण कला से है। स्वभाव सिद्ध एवं निरावलम्ब होने के कारण कंठ संगीत को पूर्ण तथा सर्वप्रधान और यंत्रसंगीत तथा नृत्य को वाद्ययंत्रों की आधीनता से सम्पादित होने के कारण मध्यम माना गया है। अत: संगीत में गाने की क्रिया को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है, तत्पश्चात् वादन एवं नृत्य को। इस प्रकार गायन की प्रधानता होने के कारण तीनों को संगीत कहा गया है।[2]

गानस्याऽत्र प्रधानत्वात्तत्संगीतमितीरितम् ।

श्री भातखण्डे जी का कथन इस प्रकार है —

"संगीत समुदाय वाचक नाम माना जाता है, इस नाम से

१- संगीत परिजात - श्लोक संख्या २०, पृ० सं० ६ ।

२- संगीतपारिजात - श्लोक संख्या २०, पृ० सं० ६ ।

तीन कलाओं का बोध होता है, ये कलाएं गीत, वाद्य एवं नृत्य हैं। इन तीन कलाओं में गीत का प्राधान्य है। अत: केवल संगीत नाम ही चुन लिया गया है।[1] किन्तु जिस प्रकार साहित्य "सत्यं शिवं सुन्दरं" के सहयोग से निखर उठता है, उसी प्रकार संगीत गायन-वादन एवं नृत्य के समन्वय द्वारा।

(ब) संगीत के आधार :—

(१) नाद —

संगीत का आधार नाद है। सभी गीत नादात्मक अर्थात नाद पर अवलम्बित है, वाद्यनाद उत्पन्नकर्ता होने से प्रशस्त है। "नृत्य", गीत तथा वाद्य के आधार से सम्पादित होता है। अत: यह तीनों कलाएं "नादाधीन" मानी गयी हैं।

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्यं नादाधीनमतस्त्रयम् ॥[2]

नाभि के ऊपर हृदय स्थान से ब्रह्मरन्ध्र-स्थित प्राणवायु में एक प्रकार का शब्द होता है, उसी को नाद कहते हैं[3] -

नाभेरूर्ध्वंहृदिस्थानान्मारुत: प्राणसंज्ञक:।
नदति ब्रह्मरन्ध्रान्ते तेन नाद: प्रकीर्तित: ॥

यह सर्वविदित है कि ब्रह्माण्ड की चराचर वस्तुओं में नाद व्याप्त है, अतएव

१- भातखण्डे : संगीतशास्त्र, प्रथम भाग, पृ० सं० २।

२- संगीतरत्नाकर - द्वितीय पिण्डोत्पत्तिप्रकरण, प्रथम स्वरगताध्याय, श्लोक संख्या १, पृ० सं० २२।

३- संगीतपारिजात - पृ० सं० ११।

इस नाद को नादब्रह्म ऐसी ही संज्ञा प्रदान की गयी है । मूलभूत नादब्रह्म ॐकारवाचक है, इसी नादब्रह्म से संगीत की उत्पत्ति है ।

नाद के प्रकार-

नाद दो प्रकार का होता है :-

१- अनाहत नाद

२- आहत नाद

संगीतदर्पणकार ने कहा है कि —

आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ।[१]

तथा —

नादस्तु द्विविधः प्रोक्तः पूर्वनादस्त्वनाहतः ।
आहतस्तु द्वितीयोऽसौ वाद्यव्याघातकर्म्मणा ।।[२]

अनाहत नाद -

अनाहत नाद वह होता है, जो कान के छिद्रों में उंगली लगाने पर सुनाई देता है, अनाहत नाद बिना किसी आधार के उत्पन्न होता है । प्राचीन आचार्यों की कही हुई रीति के अनुसार मुनिजन अनाहत नाद की उपासना करते हैं । इस प्रकार यह नाद मुक्तिदायक तो

१- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १५, पृ० सं० ६ ।

२- संगीतपारिजात - पृ० सं० ११ ।

है, अपितु रंजक नहीं है —

> तत्राऽनाहतनादं तु मुनय: समुपासते ।
> गुरूपदिष्टमार्गेण मुक्तिदं न तु रंजकम् ।।[१]

संगीत का प्रधान गुण रंजन प्रदान करना है, अत: वह अनाहत नाद से असम्बद्ध है, हठयोगी मोक्ष प्राप्त करने के लिये अनाहत नाद की उपासना करते हैं ।

आहत नाद -

शास्त्रोक्त संगीत में जिस नाद का विवेचन है, वह आहत नाद है । आघात, स्पर्श तथा संघर्ष से अथवा दो वस्तुओं को रगड़ एवं टकराने से अथवा वाद्ययंत्रों पर आघात करने से जो शब्द निर्गत होता है उसे आहत नाद कहते हैं । नारद संहिता में कहा गया है कि इसी (आहत नाद) से संगीत के स्वरों की उत्पत्ति होती है, अत: पृथ्वी पर ऐसे नाद की सदा जय बनी रहे ।[२]

> आहतस्तु क्षितौयोऽसौ वाद्येष्वाघातकम्पेण ।
> तेन गीतस्वरोत्पत्ति: स नादो जयते भुवि ।।

आहत नाद व्यवहार में रंजक बनकर भवभंजक भी बन जाता है[३] —

> स नादस्त्वाहतो लोके रंजको भवभंजक: ।

१- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १६, पृ० सं० ६ ।
२- संगीतपारिजात में उद्धृत पृ० सं० ११ ।
३- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १७, पृ० सं० १० ।

इस प्रकार नाद का ग्रहण ध्वनि से होता है । काव्यशास्त्रवेत्ताओं ने ध्वनि के १४ सहस्र भेद किये हैं, किन्तु संगीतपयोगी नाद का कुछ ही ध्वनियों से सम्बन्ध है, सभी पदार्थों के टकराने या संघर्ष से उत्पन्न हुई ध्वनि को संगीतपयोगी नाद नहीं कहा जा सकता है । पत्थर पर चोट करने से, रेलगाड़ी की घड़घड़ाहट से तथा चपला की चमक से जो ध्वनि प्रादुर्भूत होती है, उसे संगीतपयोगी नाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि उस ध्वनि में किसी भी प्रकार का ठहराव एवं माधुर्य नहीं होता है । जिस ध्वनि में ठहराव एवं मधुरता हो तथा जो ध्वनि श्रवणेन्द्रिय को प्रिय लगे, उसे ही संगीतपयोगी नाद कहा जाता है ।

(२) श्रुति —

'श्रु' धातु जो सुनने के अर्थ में है, उसमें 'क्ति' प्रत्यय लगाने से श्रुति शब्द बनता है ।[1]

इदानीं तु प्रवक्ष्यामि श्रुतीनां च विनिश्चयम् ।
श्रु श्रवणे चास्यधातोः क्तिप्रत्ययसमुद्भवः ।।

श्रुतियों का कारण श्रावणत्व कहा गया है, अर्थात जो कान से सुनाई दे एवं जिसको श्रवणेन्द्रिय या कान का पर्दा ग्रहण कर सके उसे श्रुति कहते हैं ।[2]

१- बृहद्देशी, 'मतंग' - श्लोक संख्या २६, पृ० सं० ४ ।

२- श्रुतयः स्युः स्वराभिन्नाः श्रावणत्वेन हेतुना ।। ३८ ।।

'श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् । (विश्वावसु)'

। संगीतपारिजात - श्लोक संख्या ३८, पृ० सं० १२ ।

। संगीतपारिजात में उद्धृत पृ० सं० १३ ।

संगीतदर्पणकार का कथन है कि प्रथमाघात से अनुरणन हुए बिना अर्थात बिना प्रतिध्वनित हुए जो ह्रस्व टंकोर नाद उत्पन्न होता है, उसे श्रुति समझना चाहिये ।

स्वरूपमात्रश्रवणान्नादोऽनुरणनं विना ।
श्रुतिरित्युच्यते भेदास्तस्या द्वाविंशतिर्मता: ।।[1]

संगीत रत्नाकार के टीकाकार कल्लिनाथ ने भी कहा है कि प्रथम सुनने से जो शब्द ह्रस्व-मात्रिक (सूक्ष्म) सुनाई देता है, उसी स्वर की अवयवस्वरूप वाली श्रुति समझना चाहिये ।[2]

प्रथमश्रवणाच्छब्द: श्रूयते ह्रस्वमात्रक: ।
सा श्रुति: सम्परिज्ञेया स्वराऽवयवलक्षणा ।।

इस प्रकार श्रुति की परिभाषा समझने के लिये तीन बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है — १- आवाज संगीतपयोगी हो, २- ध्वनि साफ-साफ सुनाई दे, ३- ध्वनि एक दूसरे से अलग तथा स्पष्ट पहचानी जा सके । अत: श्रुति की परिभाषा इस प्रकार होगी — "वह संगीतपयोगी ध्वनि जो कानों को स्पष्ट सुनाई दे और जो एक दूसरे से अलग तथा स्पष्ट पहचानी जा सके उसे श्रुति कहते हैं ।"

यदि किसी वीणा पर स्वरों के पर्दों को देखे तो प्रतीत होगा कि वे सटे हुए नहीं हैं, वरन् विभिन्न दूरी पर है । यदि और पर्दों को हटाकर केवल सात शुद्ध स्वरों को रखें तो देखेंगे कि सरे, मप, पध,

---

१- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ५१, पृ० सं० १७ ।

२- संगीतपारिजात में उद्धृत - पृष्ठ संख्या १४ ।

के पर्दों के मध्य में जो जगह रिक्त है, उसमें दो तीन जगह तार पर उंगली रखकर छेड़ने से वहां भी सुमधुर ध्वनियां होती हैं, इन्हीं अन्त: स्थानों की ध्वनियों को श्रुति कहते हैं। श्रुतियों को अंग्रेजी में प्राय: Quarter tone कहते हैं।

संगीतदर्पणकार के अनुसार यह श्रुतियां २२ मानी गयी हैं, जो इस प्रकार हैं[१] —

१- तीव्रा

२- कुमुद्वती

३- मन्दा

४- छन्दोवती

५- दयावती

६- रंजनी

७- रक्तिका

८- रौद्री

९- क्रोधी

१०- वज्रिका

११- प्रसारिणी

१- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ५३, ५४, ५५, ५६, पृ० सं० १७।

१२- प्रीति

१३- मार्जनी

१४- क्षिति

१५- रक्ता

१६- सन्दीपिनी

१७- आलापिनी

१८- मन्दती

१९- रोहणी

२०- रम्या

२१- उग्रा

२२- क्षोभिणी

(३) स्वर —

जो नाद श्रुति उत्पन्न होने के पश्चात तुरन्त निकलता है एवं जो प्रतिध्वनित रूप प्राप्त करके मधुर तथा रंजन करने वाला होता है तथा जिसे अन्य किसी नाद की अपेक्षा नहीं होती एवं जो स्वत: स्वाभाविक रूप से श्रोताओं के मन को आकर्षित कर ले, उस स्वर की संज्ञा प्रदान की गयी है । संगीत रत्नाकर में स्वर का उल्लेख इस प्रकार किया गया है —

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते ॥[1]

संगीतदर्पणकार के अनुसार —

श्रुत्यनंतरभावित्वं यस्यानुरणनात्मकः ।
स्निग्धश्च रंजकश्चासौ स्वर इत्यभिधीयते ॥
स्वयं यो राजते नादः स स्वरः परिकीर्तितः ॥[2]

पंडित अहोबल के अनुसार —

रञ्जयन्ति स्वतः स्वान्तं श्रोतृणामिति ते स्वराः ।[3]

इस प्रकार ध्वनि में निरन्तर भनक या गुनगुनाहट से कोई ध्वनि किसी ऊंचाई पर पहुंच कर वहां स्थापित रहे उसे संगीत के स्वर कहते हैं । स्वरों का परस्पर स्थान निश्चित होता है, वे प्रत्येक अपने-अपने स्थान पर निरन्तर बोलते रहते हैं तथा सुनने में रंजक और मधुर प्रतीत होते हैं ।

स्वरों की संज्ञा तथा सूक्ष्म नाम

संगीत-पारिजात में स्वरों के विषय में इस प्रकार उल्लेख है[4] —

षड्जर्षभौ च गान्धारस्तथा मध्यमपञ्चमौ ।
धैवतश्च निषादो यमिति नामभिरीरिताः ॥

१- संगीतरत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, तृतीयप्रकरण, श्लोक २४, पृ०सं० ८२ ।
२- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक ५७, ५८, पृ० सं० १८ ।
३- संगीतपारिजात - श्लोक संख्या ६३, पृ० सं० १८ ।
४- संगीतपारिजात - श्लोक संख्या ६३, ६४, पृ० सं० १८ ।

इस प्रकार स्वर सात होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं —

१- षड्ज

२- ऋषभ

३- गान्धार

४- मध्यम

५- पंचम

६- धैवत

७- निषाद

'संगीतरत्नाकर' में इन स्वरों की दूसरी संज्ञा अथवा संक्षिप्त नाम क्रमश: इस प्रकार है — तेषां संज्ञा: सरिगमपधनीत्यपरा मता: ।[१]

स्वरों का संक्षिप्त नाम इस प्रकार है — स, रे, ग, म, प, ध, नि अंग्रेजी में इन्हें Do, Re, Mi, Fa, Sol, La, Se कहते हैं । इनके सांकेतिक चिह्न निम्नलिखित प्रकार से हैं —

स	रे	ग	म	प	ध	नि
C	D	E	F	G	A	B

स्वर और श्रुति में अन्तर

स्वर और श्रुति अलग-अलग नाम अवश्य है,

१- संगीतरत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, तृतीय प्रकरण, श्लोक

किन्तु वास्तव में दोनों एक ही है, स्वर श्रुति की समष्टि है, तथा श्रुति स्वर का अंश है। श्रुतियों से ही स्वर की उत्पत्ति होती है संगीतपारिजात में उल्लेख किया गया है कि —

> चतु: श्रुतिसमायुक्ता: स्वरा: स्यु: स-म-पाभिधा ।।
> ग नौ श्रुतिद्वयोपेतौ रि - धौ त्रिश्रुतिकौ मतौ ।।[१]

इस प्रकार षड्ज में ४, ऋषभ में ३, गान्धार में २, मध्यम में ४, पंचम में ४, धैवत में ३ और निषाद में २ श्रुतियां रहती हैं। इस प्रकार सुरीली ध्वनियां जिनका अन्तर बड़ा और ठहराव अधिक होता है तथा जो एक दूसरे से अलग और स्पष्ट होती है वह स्वर कहलाती है, किन्तु जिनका अन्तर सूक्ष्म तथा ठहराव कम होता है, वे ही श्रुति कहलाती हैं। श्रुतियों को तो स्पर्शमात्र ही ठहराते हैं, परन्तु स्वरों का ठहराव अपेक्षाकृत अधिक होता है।

अहोबल पंडित के अनुसार श्रुतियां स्वरों से पृथक् नहीं है, स्वर तथा श्रुति में उतना ही भेद है जितना कि सांप और उसकी कुंडली में होता है -

> श्रुतय: स्यु: स्वराभिन्ना: श्रावणत्वेन हेतुना ।
> अहि कुण्डलवत्तत्र भेदोक्ति: शास्त्रसम्मता ।।[२]

संगीत-दामोदर में कहा गया है कि जैसे पक्षियों की गति

१- संगीतपारिजात - श्लोक संख्या ६६, ६७, पृ० सं० १८, १९।

२- संगीत-पारिजात - श्लोक संख्या ३८, पृ० सं० १२।

है ठीक उसी प्रकार स्वर में श्रुति की गति कहलाती है । इस प्रकार श्रुति नाद के वश में तथा उसके आश्रित कला बताई गयी है, जो सूक्ष्म रूपेण स्वर में स्थित है ।

गगने पक्षिणां यद्वदम्बुवागता श्रुति: ।
श्रुतिर्नादवशा प्रोक्ता तथाश्रया च कला मता ।।[१]

यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार तैल में चिकनाहट और लकड़ी में अग्नि रहती है, आकाश में वायु बहती है, तथा विद्युत में प्रकाश विद्यमान रहता है, ठीक उसी प्रकार स्वर में श्रुति है ।

यथा तैलगता सर्पिर्यथा काष्ठगतो नल: ।
श्रुति: स्वरगता तद्वक्ता च को वा वदिष्यति ।।
व्योम्नि वायुर्यथा वाति पकाशश्चैव विद्युति ।
ज्ञायतेऽत्रोपदेशेन तथा स्वरगता श्रुति: ।।[२]

कुछ लोग श्रुति को अनुरणन विहीन ध्वनि स्वीकार करते हैं, अर्थात जब कोई नाद उत्पन्न होता है तो उसकी आंस निकलने से पूर्व उसका जो रूप ध्वनित होता है, वही श्रुति है, और आंस अथवा अनुरणन युक्त जो नाद उत्पन्न होता है उसे स्वर की संज्ञा दी गयी है ।

स्वरों के भेद :

स्वर के दो भेद होते हैं --

१- शुद्ध

२- विकृत

१- संगीत पारिजात में उद्धृत, पृ० सं० १७ ।

२- संगीत पारिजात में उद्धृत, पृ० सं० १७ ।

शुद्ध स्वर संख्या में सात तथा विकृत स्वर २२ होते हैं । संगीत-पारिजात में इस प्रकार उल्लेख है —

> शुद्धत्वविकृतत्वाभ्यां स्वरा द्वेधा प्रकीर्तिता: ।
> शुद्धा: सप्त विकाराख्या द्वयधिका विंशतिर्मता: ।।[१]

१- शुद्ध स्वर :-

इन २२ श्रुतियों में से १, ५, १०, १४, १८ और २१ पर जो स्वर होते हैं, उन्हें शुद्ध स्वर कहते हैं । यथा -- स, रे, ग, म, प, ध, नि ।

२- विकृत स्वर :-

विकृत स्वर दो प्रकार के होते हैं—

(१) कोमल स्वर
(२) तीव्र स्वर

(१) कोमल स्वर :-

शुद्ध स्वर से नीचे उतरने पर कोमल स्वर होता है यथा —

रे, ग, ध, नि

(२) तीव्र स्वर :-

शुद्ध स्वर से ऊपर चढ़ने को तीव्र स्वर कहते हैं ।यथा -

म॑

१- संगीत पारिजात - श्लोक ६४, ६५, पृ० सं० १८ ।

स्वर प्रकार

स्वर चार प्रकार के माने जाते हैं —

(१) वादी स्वर

(२) संवादी स्वर

(३) विवादी स्वर

(४) अनुवादी स्वर

संगीत रत्नाकर में इस प्रकार उल्लेख है —

चतुर्विधा: स्वरा वादी संवादी च विवाद्यपि ।
अनुवादी च वादी तु प्रयोगे बहुल: स्वर: ।।[१]

संगीतदर्पणकार के अनुसार —

वाद्यादिभेदभिन्नाश्चतुर्विधास्ते स्वरा: कथिता: ।[२]

१- वादी स्वर—

राग में जो स्वर अन्य-अन्य स्वरों की अपेक्षा अधिक महत्व का हो तथा राग के स्पष्टीकरण तथा उसकी सुन्दरता की वृद्धि करने में जिस स्वर का अत्यधिक प्रयोग हो, और जिससे राग का स्वरूप प्रकट हो उसे वादी स्वर कहते हैं । राग में वादी स्वर को राजा की उपाधि दी जाती है । इसी स्वर से राग के नाम तथा गाने का समय निश्चित किया

१- संगीत रत्नाकर - प्रथमस्वरगताध्याय, तृतीय प्रकरण, श्लोक संख्या ४७, पृ० सं० ६२ ।

२- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ६८, पृ० सं० २६ ।

जाता है । अतएव संगीतदर्पणकार ने कहा है कि —

रागोत्पादनशक्तिर्वदनं तद्योगतो वादी ।
बहुलस्वर: प्रयोगे भवति हि राजा च सर्वेषाम् ॥[1]

पंडित अहोबल के अनुसार —
प्रयोगो बहुधा यस्य वादिनं तं स्वरं जगु: ।
राजत्वमपि तस्येति मुनय: संगिरन्ति हि ॥[2]

२- संवादी स्वर —

राग में जिस स्वर का प्रयोग वादी स्वर से न्यून तथा अन्य स्वरों की अपेक्षा अधिक हो, उसे संवादी स्वर कहते हैं । इसको राग का प्रधानमंत्री कहा जाता है -

तस्यामात्यस्तु संवादी वादिनो राजसंज्ञिन: ॥[3]

३- विवादी स्वर —

जिस स्वर के प्रयोग से राग के रूप में अन्तर पड़ता है, अथवा जिससे हानि होने की संभावना होती है, उसे विवादी स्वर कहते हैं । विवादी स्वर का अधिक प्रयोग राग की रंजकता, एकरूपता तथा उसके रस को भंग करता है, अत: इसे बैरी के सदृश कहते हैं । साधारणत: ऐसे स्वर को वर्ज्य स्वर मानते हैं, कभी-कभी रंजकता बढ़ाने के लिये विवादी स्वर का तनिक-सा पुट दे दिया जाता है ।

१- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ६८, ६६, पृ० सं० २६,२८ ।

२- संगीत पारिजात - श्लोक संख्या ७६, ८०, पृ० सं० २१ ।

३- संगीत-पारिजात - श्लोक संख्या ८३, पृ० सं० २४ ।

४- अनुवादी स्वर —

शेष स्वरों को अनुवादी स्वर कहते हैं । ये अनुयायियों के सदृश हैं, जिनको प्रजा की उपाधि दी जाती है ।

भृत्यतुल्यानुवादी[१]

अचल स्वर —

जो स्वर अपने निश्चित स्थान को नहीं त्यागते तथा एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं और कभी विकृत नहीं होते वे अचल स्वर कहे जाते हैं । संगीत शास्त्र में स और प अचल स्वर कहे गये हैं ।

(४) ग्राम —

स्वरों के समुदाय को ग्राम कहते हैं, ग्राम मूर्च्छना के आधारभूत होते हैं । यथा -

ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छना देः समाश्रयः ।[२]

ग्रामः स्वरसमूहः स्यात्मूर्च्छनादेः समाश्रयः ।[३]

अथ ग्रामास्त्रयः प्रोक्ताः स्वरसन्दोहरूपिणः ।

मूर्च्छनाधारभूतास्ते षड्जग्रामस्त्रिषूत्तमः ।।[४]

ग्राम तीन होते हैं -- षड्ज, मध्यम तथा गान्धार । संगीत पारिजात में

१- संगीत पारिजात - श्लोक संख्या ८४, पृ० सं० २४ ।

२- संगीत रत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, चतुर्थ प्रकरण, श्लोक संख्या १, पृ० सं० ९९ ।

३- संगीत-दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ७५, पृ० सं० २६ ।

४- संगीत-पारिजात - श्लोक संख्या ९७, ९८, पृ० सं० २८ ।

में इस प्रकार उल्लेख किया गया है —

'षड्जमध्यमगांधारसंज्ञाभिस्ते समन्विता ।'[1]

गान्धार ग्राम देवलोक में है । संगीतदर्पणकार ने कहा है कि --

गांधारग्राममाचष्ट तदा तं नारदो मुनि:
प्रवर्तते स्वर्गलोके ग्रामोऽसौ महीतले ।।[2]

इस लोक में दो ग्राम है, पहला षड्ज तथा दूसरा मध्यम ।[3]

(५) <u>मूर्च्छना</u> —

सात स्वरों के क्रमान्वित आरोहण-अवरोहण को मूर्च्छना कहते हैं । मूर्च्छना ग्राम के आश्रित होती है, ग्राम को नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे तक बजाना ही मूर्च्छना कहलाता है ।

संगीतदर्पणकार का कथन है कि सात स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह करना मूर्च्छना कहलाता है, तीन ग्राम होते हैं तथा उनमें से प्रत्येक में सात-सात मूर्च्छनाएं होती हैं -

क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामत्रये ता: सप्तसप्त च ।।[4]

अहोबल पंडित मूर्च्छना का लक्षण निर्धारित करते हुए कहते हैं

१- संगीत पारिजात - श्लोक संख्या ६७, पृ० सं० २८ ।

२- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ८०, पृ० सं० ३० ।

३- तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात्षड्ज ग्राम आदिम: ।
द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षणमुच्यते ।।
- संगीत रत्नाकर, प्रथम स्वरगताध्याय, चतुर्थ प्रकरण, श्लोक संख्या १, पृ० सं० ६६ ।

४- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ६२, पृ० सं० ३३ ।

कि "जब स्वरों का अवरोहण (षड्ज से निषाद तक चढ़ना) और अवरोहण उसी भांति ऊपर से नीचे उतरना होता है, तब लोक में उसे पंडितजन मूर्च्छना कहते हैं तथा वह ग्राम पर आश्रित होती है ।

आरोहश्चावरोहश्च स्वराणां जायते यदा ।
तां मूर्च्छनां तदा लोके प्राहुर्ग्रामाश्रयं बुधाः ।।[1]

(७) तान —

रागों के स्वल्प स्वरूप को तानने, विस्तृत करने तथा फैलाने को तान कहते हैं, तान दो प्रकार की होती है --

१- शुद्ध तान
२- कूट तान

१- शुद्ध तान :-

जब शुद्ध मूर्च्छनाओं को षाडव (षट्स्वरोपेत) एवं औडव (पंचस्वरोपेत) किया जाता है, तो उसे शुद्ध तान कहते हैं । यथा -

यदा तु मूर्च्छनाः शुद्धाः षाडवौडविताः कृताः ।
तदा तु शुद्धतानाः स्युर्मूर्च्छनाश्चात्र षाडवगाः ।।[2]

इस प्रकार शुद्ध तानों को सरल तान भी कहते हैं, इनमें स्वरों का आरोह-अवरोह क्रम से नियमित होता है एवं उनका क्रम नहीं टूटता है ।

२- कूट तान :-

सम्पूर्ण तथा असम्पूर्ण मूर्च्छनाओं के स्वर क्रमों का भंग करके

१- संगीत पारिजात - श्लोक संख्या १०३, पृ० सं० ३३ ।

२- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १०६, पृ० सं० ३६ ।

जब उनका उच्चारण किया जाता है, तब कूटतान की उत्पत्ति होती है ।

असंपूर्णाश्च संपूर्ण व्युत्क्रमोच्चारितस्वरा: ।
मुर्च्छना: कूटताना: स्युरिति शास्त्रविनिर्णय: ।।[१]

इस प्रकार कूटतान में स्वरों के क्रम का कोई विशेष नियम नहीं होता है, पूर्ण मुर्च्छना से उत्पन्न होने वाले को पूर्ण कूटतान और असम्पूर्ण मुर्च्छना से निकलने वाले को असम्पूर्ण कूटतान कहते हैं ।

(७) सप्तक —

सात स्वरों के क्रमिक समूह "स, रे, ग, म, प, ध, नि", को भारतीय संगीत में सप्तक कहते हैं । यूरोपीय संगीत में आठ स्वरों "स - सं, म - मं, या प - पं" आदि का समूह लेते हैं, और उनको अष्टक (Octave) कहते हैं । प्रत्येक सप्तक के दो भाग होते हैं । "सा से प" तक को पूर्वार्द्ध और "म से तार सां" तक को उत्तरार्द्ध कहते हैं । भारतीय संगीत में सप्तक के तीन प्रकार माने जाते हैं ।

१- मन्द्र सप्तक :-

सबसे नीचे वाले को मन्द्र सप्तक कहते हैं, इसका उच्चारण हृदय से होता है । उदाहरणस्वरूप --

स़ रे़ रे़ ग़ ग़ म़ मं़ प़ ध़ ध़ नि़ नि़

२- मध्य सप्तक :-

मन्द्र सप्तक के ऊपर वाले को मध्य सप्तक कहते हैं, इसका सम्बन्ध कंठ से होता है । यथा --

स रे रे ग ग म म प ध ध नि नि

१- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या ११२, पृ० सं० ४० ।

३- तार सप्तक :-

मध्य सप्तक से ऊपर वाले को तार सप्तक कहते हैं। यह मुच्छंना से सहायता लेता है। यथा —

सं रें रें गं गं मं मं पं धं धं निं निं

इस प्रकार गायन में मध्य सप्तक सबसे अधिक काम में प्रयुक्त होता है, क्योंकि उसमें आवाज बहुत अधिक खींचनी नहीं पड़ती है। यूरोपीय वाद्य पियानों में सात सप्तक रखे जाते हैं, जिनको भारतीय भाषा में मंद्रतम, मंद्रतर, मंद्र, मध्य, तार, तारतर, तारतम कहते हैं।

(८) वर्ण —

स्वरों को यथा नियम उच्चारण अथवा विस्तार करने तथा गान क्रिया को वर्ण कहते हैं। गायन में आवाज को स्वरों के कारण जो चाल मिलती है उसको गान क्रिया अथवा वर्ण कहते हैं। यह गान क्रिया अथवा वर्ण चार प्रकार के हैं। यथा -

१- स्थायी वर्ण
२- आरोही वर्ण
३- अवरोही वर्ण
४- संचारी वर्ण

संगीतदर्पणकार के अनुसार —

गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः।
स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारीत्यथ लक्षणम् ॥[१]

१- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १६०, पृ० सं० ६७।

१- स्थायी वर्ण :-

एक ही स्वर की पुनरुक्ति को स्थायी वर्ण कहते हैं। यथा — 'सा सा', 'रे रे रे', 'ग ग ग ग', इत्यादि।

२- आरोही वर्ण :-

निम्न स्वर से किसी उच्च स्वर पर जाने को आरोही कहते हैं। यथा -- स रे ग म आदि।

३- अवरोही वर्ण :-

आरोही वर्ण की विपरीत गति अर्थात् ऊपर से नीचे क्रमानुसार आने को अवरोही वर्ण कहते हैं। यथा -- नि ध प म, प म ग आदि।

४- संचारी वर्ण :-

स्थाई, आरोही तथा अवरोही वर्णों के मिश्रण को संचारी वर्ण कहते हैं। यथा -- स रे ग म, रे ग म, ग रे स, सा सा ग रे म प म ग रे रे आदि।

पंडित दामोदर ने अपने संगीतदर्पण में उपर्युक्त इन सभी का उल्लेख इस प्रकार किया है।[1] यथा -

स्थित्वा स्थित्वा प्रयोग: स्यादेकैकस्य स्वरस्य य: ।
स्थायी वर्ण: स विज्ञेय: परावन्वर्थनामकौ ।
एतत्संमिश्रणाद्वर्ण: संचारी परिकीर्तित: ।।

(६) अलंकार —

नियमित वर्ण समुदाय को अलंकार कहते हैं। अलंकार में

१- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १६१, पृ० सं० ६७।

क्रमानुसार स्वरों के सगुम्फन से राग की शोभा में वृद्धि की जाती है । यथा -

विशिष्टवर्णसंदर्भमलंकारं प्रचक्षते ।[1]

क्रमेण स्वरसन्दर्भमलङ्कारं प्रचक्षते ।[2]

(१०) पकड़ —

जिस स्वर समुदाय से किसी राग का बोध होता है उसे पकड़ कहते हैं । उदाहरणस्वरूप —

राग यमन में — ग, रे सा, नि रे ग, रे स ।

राग आसावरी में — रे, म, प, नि ध, प ।

(११) जाति —

स्वरों के नाम वाली सात शुद्ध जातियां होती हैं । संगीत पारिजात में इस प्रकार उल्लेख किया गया है । यथा -

शुद्धाः स्युर्जातयः सप्त ताः षड्जादिस्वराभिधाः ।
आद्या षड्जा तु विज्ञेया द्वितीया चार्षभी स्मृता ।।
गान्धारी तु तृतीया सा चतुर्थी मध्यमा परा ।
पञ्चमी पञ्चमी ज्ञेया षष्ठी तु धैवती पुनः ।।
सप्तमी स्यात्तु नैषादी तासां लक्ष्म च कथ्यते ।[3]

इस प्रकार इन जातियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं —

१- षड्जा

१- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १६४, पृ० सं० ६८ ।

२- संगीत पारिजात - श्लोक संख्या २२१, पृ० सं० ५७ ।

३- संगीत पारिजात - श्लोक संख्या २६७, २६८, २६६, पृ० सं० ८४ ।

२- ऋषभी

३- गान्धारी

४- मध्यमा

५- पंचमी

६- धैवती

७- नैषादी

(१२) मेल या थाट —

किसी भी प्रकार के स्वरों का एक समूह 'मेल' या 'थाट' कहलाता है। थाट से रागों का जन्म माना गया है। राग में कम से कम पांच और अधिक से अधिक सात स्वर हो सकते हैं। पांच स्वर वाले रागों की जाति औडव, छः स्वर वालों की षाडव और सात स्वर वालों की जाति सम्पूर्ण मानी गयी है। इस प्रकार इन्हीं तीनों के सम्मिश्रण से नौ जातियां बनी। राग का सबसे प्रमुख स्वर वादी, उससे कम संवादी तथा राग में लगने वाले अन्य स्वर अनुवादी कहलाते हैं, राग में न लगने वाले स्वर विवादी कहलाते हैं। राग की रंजकता बढ़ाने के लिये कभी-कभी विवादी स्वर प्रयोग होता है, जैसे केदार और हमीर। इस प्रकार सभी रागों का समय निश्चित होता है, किन्तु फिर भी कुछ राग किसी विशिष्ट ऋतु में हर समय गाये बजाये जाते हैं, जैसे बसन्त ऋतु में बहार। इस प्रकार 'मेल' राग को प्रकट करने की शक्ति रखता है। संगीत पारिजात में उल्लेख किया गया है कि --

'मेलः स्वरसमूहः स्याद्रागव्यञ्जनशक्तिमान'[1]

१- संगीत पारिजात - श्लोक संख्या ३२६, पृ० सं० ८६।

(ब) राग शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा —

संगीत के क्षेत्र में जिस "जनचित्तरंजकध्वनि विशेष" की प्रतिष्ठा है, उस ध्वनि विशेष के वाचक "राग" शब्द का उद्गम "रञ्ज" धातु से है। पाणिनीय व्याकरण में दो स्थलों पर "रञ्ज रागे" अर्थात् रंगने के अर्थ में "रञ्ज" धातु का प्रयोग बताया गया है।[1] इसी धातु में "घञ्" प्रत्यय जुड़कर "राग" संज्ञा शब्द बनता है जिसका अर्थ "रंग" है। इसी प्रकार "शब्दकल्पद्रुमकोश" में "रञ्ज + भावे करणे वा घञ्। रंजनमिति रज्यतेऽनेनेति वा"[2] अर्थात् "रञ्ज धातु में भाववाचक संज्ञा, क्रिया या साधन के अर्थ में "घञ्" प्रत्यय से राग शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार "रंगना" क्रिया और "राग" या "रंग" संज्ञा (नामपद) की यह मूल अर्थ भावना बहुत महत्वपूर्ण है, "जन-चित्त-रंजन" लोक- मनोरंजन या बाह्य रूप से "अंगराग" के प्रयोग से वस्तुत: मनुष्य प्राणी के चित्त मन अथवा शरीर को किसी एक रंग में रंगा ही तो जाता है। यह रंग द्वारा एकीकरण- अर्थात् यह द्वैत का लोप ही अलौकिक आनन्द का कारण होता है। संगीत का "राग" भी हमें अपने रंग में रंग लेता है, प्रेमी और प्रेमास्पद का राग या अनुराग भी यही कार्य करता है, अर्थात वह एक ही रंग —प्रेमानुभूति द्वारा प्रेमी और प्रेमास्पद, दोनों को एकाकार कर देता है, जो उनके चरम आनन्द की स्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि किसी एक तत्व में रंग जाना ही अलौकिक आनन्द की स्थिति है। इसीलिये भारतीय कोष ग्रन्थों में "रञ्ज" धातु से निष्पन्न "रंजन" और "राग" या "रंग" शब्द क्रमश: "रंगने" की क्रिया तथा "वर्ण" या "रंग" (विशेषत: लाल रंग) के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

१- वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी "उत्तरार्द्ध" - धातु संख्या ९९९, भ्वादिगण, पृ० सं० ९६०।

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी "उत्तरार्द्ध" - धातु संख्या ११६८, दिवादिगण, पृ० सं० २२३।

२- शब्दकल्पद्रुमकोश -- चतुर्थभाग, पृ० सं० ११०।

वास्तव में शब्द की अनुभूति के बिना लोक में किसी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि संभव नहीं है, वैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है कि —

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में कोई विश्वास ऐसा नहीं, जिसकी जानकारी शब्द के बिना संभव हो सके, क्योंकि शब्द में ज्ञान पिरोया हुआ है, सम्पूर्ण जीवों का ज्ञान शब्द से होता है । इसीलिये भर्तृहरि मनीषी ने यहां तक कहा है कि यह समस्त चराचर शब्द का परिणाम है ।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदु: ।[2]

संगीत रत्नाकरकार नि:शंक शार्ङ्गदेव का मत है, कि 'नाद' से वर्ण, वर्ण से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्यों से इस जगत के व्यवहार व्यंजित होते हैं । अत: यह सारा जगत नाद के आधीन है ।[3] संगीत रत्नाकर के मनीषी टीकाकार चतुर कल्लिनाथ ने लिखा है कि --'दशविधानामेषां रागत्वं रञ्जनात् । रञ्जनं च रज्यते येन जनचित्तमिति करणव्युत्पत्त्या ता जनचित्तानि रञ्जयतीति कर्तरि वा . . उपयार्गो घटते ।[4]

1- वाक्यपदीय - ब्रह्मकाण्ड, कारिका नं० १२३, पृ० सं० १२० ।

2- वाक्यपदीय - ब्रह्मकाण्ड, कारिका नं० १२०, पृ० सं० ११७ ।

3- नादेन व्यज्यते वर्ण: पदं वर्णात्पदाद्वच: ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।।
- संगीतरत्नाकर, प्रथमस्वरगताध्याय, द्वितीय पिण्डोत्पत्ति-प्रकरण, श्लोक संख्या २, पृ० सं० २२ ।

4- संगीतरत्नाकर - द्वितीय रागविवेकाध्याय प्रकरण, पृ० सं० २ ।

अर्थात् रंजन करने (रंगने - आनंदित करने) के कारण इन दशविध (ध्वनियों) को `राग` कहते हैं । तृतीया विभक्ति से इसकी व्युत्पत्ति करने पर अर्थ होगा- जिससे अन्तचित्त रंग दिया जाय, आप्लावित अथवा आनंदित कर दिया जाय, वह `राग` है । इसी प्रकार प्रथमा विभक्ति से इसकी व्युत्पत्ति करने पर अर्थ होगा- जो अन्तचित्त को रंग दे (आप्लावित अथवा आनंदित कर दे, वह `राग` है । इस प्रकार यह दोनों ही अर्थ घटित होते हैं ।

राग - लक्षण व परिभाषा—

`राग` शब्द संस्कृत के `रञ्ज` धातु से निर्मित है, जिसका मुख्य अर्थ है रंगना । इस प्रकार जो स्वर रचना श्रोताओं को अपने रंग में रंग दे, अथवा विमोहित कर दे, वही राग है । लोकगीत, कव्वाली आदि भी सुनने वालों को आत्मविभोर कर देते हैं, इसी प्रकार फिल्मी धुनें भी मन को मोह लेती है । गजल भजन आदि भी श्रोताओं को रसमय कर देते हैं । प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या यह सब राग है ? इसका उत्तर यह हो सकता है कि यह सभी राग की उपज है एवं उसी के टुकड़े हैं इसी कारण मनोहारी है । वास्तव में आनन्द की अभिव्यक्ति ही संगीत है । मानव उसकी धुनों से पुलकित होकर आह्लादित हो जाता है, और यही धुने आगे चलकर राग की जननी हुईं । यह सर्वविदित है कि धुनें सभी संगीत में विद्यमान थी, चाहे वह पाश्चात्य या अन्य संगीत हो । किन्तु भारतीय प्रतिभा ने उन धुनों को वैज्ञानिकता का तथा व्याकरण के नियमों का ऐसा परिधान पहना दिया कि राग के रूप में वह विश्वसंगीत की एक अनूठी बेजोड़ निधि बन गयी है ।

राग को यह शास्त्रीय परिवेश कब और कैसे मिला यह कहानी अनकही ही रह गयी । यह सर्वविदित है कि वेदों से संगीत उपजा, भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उसकी एक रूपरेखा खींची, शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में उसे कितने हीरे मोतियों से अलंकृत किया तथा कितने अन्य संगीतशास्त्रियों ने भी इस पर अपना रंग चढ़ाया है । संगीतदर्पण में राग की परिभाषा इस

प्रकार दी गयी है --

> योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषित: ।
> रंजको जनचित्तानां स राग: कथितो बुधै: ।।[१]

तात्पर्य यह है कि वह ध्वनि विशेष जो स्वर और वर्ण से विभूषित हो और जो जनमानस को आनंदित कर सके वही राग है । इस व्याख्या में स्वर तथा वर्ण ये पारिभाषिक शब्द है । वर्ण की व्यवस्था ग्रन्थकारों ने इस प्रकार की है --

> गानक्रियोच्यते वर्ण: स चतुर्धा निरूपित: ।
> स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारीत्यथ लक्षणम् ।।[२]

इस प्रकार गाने की जो प्रक्रिया होती है तथा उसमें स्वरों का जो ठहराव, चढ़ाव, उतार होता है उसे वर्ण कहते हैं ।

पंडित अहोबल के अनुसार राग की परिभाषा इस प्रकार है --

> रंजक: स्वरसन्दर्भो राग इत्यभिधीयते ।[३]

अर्थात् स्वरों का एक रंजक सन्दर्भ सुसंगठित समूह राग कहलाता है ।

राग उस गाने या बजाने को कहते हैं जो अपने माधुर्य से प्राणिमात्र को आकर्षित कर ले, इस प्रकार चाहे वह कण्ठ से गाया जाय

१- संगीतदर्पण - द्वितीय रागाध्याय, श्लोक संख्या १, पृ० सं० ७१ ।

२- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक संख्या १६०, पृ० सं० ६७ ।

३- संगीत-पारिजात -- श्लोक संख्या ३३६, पृ० सं० ६१ ।

या किसी वाद्ययंत्र पर बजाया जाय, किन्तु सौन्दर्य और आकर्षण रहित गायन अथवा वादन को राग नहीं कह सकते, अतएव स्वरों के कतिपय मेल को जो माधुर्य उत्पन्न कर सके उसे राग की संज्ञा प्रदान की गयी है । इन्हीं रागों में रंजकता लाने के लिये ताल और लय भी निश्चित किये गये हैं । संस्कृत के रागकाव्यों में जो गीत होते हैं वह गीत संगीतशास्त्र के नियमानुसार राग, ताल और लय में निबद्ध होते हैं, अत: ताल और लय का क्या स्वरूप है । उसकी व्याख्या इस प्रकार है —

(स) राग के सहयोगी तत्त्व —

(१) ताल :-

संस्कृत के रागकाव्यों में संगीत की दृष्टि से 'ताल' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । संगीत ही क्या समस्त सृष्टिक्रम में एक अपूर्व ताल व्यवस्था अर्थात काल की नियमितता दृष्टिगोचर होती है । यथा सूर्योदय व सूर्यास्त से लेकर मनुष्य के हृदय स्पन्दन तक में गति रहती है, प्राणियों के सांस लेने में भी एक गति है, विभिन्न ग्रहों के अपनी परिधि पर या दूसरे ग्रहों के चारों ओर घूमने के काल में किंचित मात्र भी अन्तर होने से वह महाप्रलय का कारण बन सकता है । इस प्रकार जीवन के अणु-अणु में ताल व्याप्त है ; लय के आधार पर ही ताल की व्यवस्था निश्चित होती है ।

संगीत के साथ ताल का सम्बन्ध शरीर के साथ प्राण जैसा है । संगीत में ताल के महत्व को जान लेने से पूर्व ताल शब्द के बारे में जानना आवश्यक है । ताल के सम्बन्ध में अमरकोष में कहा गया है कि —

'ताल: कालक्रियामानम्'[१]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि संगीत में जो समय व्यतीत होता है, उसके नापने

१- अमरकोष - पृ० सं० ६६, श्लोक संख्या ६ ।

वाली क्रिया को ताल कहते हैं, दूसरे शब्दों में विभिन्न मात्राओं के समूह को ताल कहा जाता है। जैसे - सोलह मात्राओं के समूह को तीन-ताल, दस मात्राओं के समूह को झपताल आदि।

ताल शब्द की व्युत्पत्ति —

संगीत मकरन्द में 'ताल' के सन्दर्भ में इस प्रकार उल्लेख किया गया है। यथा -

> ताल शब्दस्य निष्पत्तिः प्रतिष्ठार्थेनधातुना ।
> गीतं वाद्यं च नृत्यं च भाति ताले प्रतिष्ठितम् ।।[१]

इस प्रकार संस्कृत पण्डितों की यह विशेषता रही है कि वे विभिन्न वर्णों का धातु रूप शब्द को देते थे। परिमाण सूचक 'मा' धातु से 'मात्रा' शब्द का एवं रंजक 'चन्द' धातु से 'छन्द' शब्द का उद्भव हुआ है। विद्वानों का मत है कि ताल का धातु रूप 'तल' है, जैसे 'भित्ति' या 'बुनियाद' कह सकते हैं। गीत वाद्य और नृत्य तीनों की प्रतिष्ठा ताल पर हुई, सम्भवतः इसीलिये प्रतिष्ठावाचक धातुरूप 'तल' से 'ताल' बना हो सकता है।

> तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः ।
> गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ।।[२]

इस प्रकार संगीत में ताल के महत्व को समझने का अर्थ है गायन, वादन

१- संगीत मकरन्द - श्लोक संख्या ४८, पृ० सं० ४३।

२- संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ की टीका -- अधिकारार्थमाह - अथ ताल इति। ताल शब्दं व्युत्पादयति - तालस्तलप्रतिष्ठायामित्यादिना। तस्माद्धातोः 'पदर (रु) जविशस्पृशो घञ्' (३-३- १६)इत्यनुवर्तमाने 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३-३-१६) इत्यनेन सूत्रेणाधिकरणेऽर्थे घञप्रत्यये विहितं ताल इति रूपम्।
- संगीतरत्नाकर,पञ्चमस्तालाध्याय, श्लोक संख्या २,पृ० सं० ३५५।

एवं नृत्य में ताल का महत्व होता है क्योंकि "गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते"[1] अतएव किसी भी संगीतज्ञ एवं नृत्यकार की सत्यता को परखने के लिये ताल एक मोटा साधन है जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझ लेता है। संगीतरत्नाकरकार के अनुसार - "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्"[2], अर्थात् गायन वादन तथा नृत्य ताल ही से शोभा पाते हैं। इस प्रकार 'ताल' कालमान को निर्धारित करने के लिये ठीक उसी प्रकार से है, जिस प्रकार मिनिट बताने के लिये सैकेन्ड, घण्टा बताने के लिये मिनिट, दिन रात बताने के लिये घंटे, मास बताने के लिये दिन और वर्ष बताने के लिये महीने होते हैं। जिस प्रकार अन्धकार में प्रकाश का भाव निहित, दु:ख में सुख का, हास्य में रुदन का, ठीक उसी भांति संगीत में 'ताल' समाई हुई है।

इस प्रकार गीत में ताल की महत्ता "गीततालविकल्पनम्"[3] व नाट्य में ताल की उपयोगिता "नाट्यताले प्रतिष्ठित:"[4], भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित की है। ताल को भरत ने काल-प्रमाण विशेष माना है, "तत: कालेन संयुक्तो भवेन्नित्यं प्रमाणत:, गानं तालेन धार्यते।"[5] भरतमुनि ने तालांग के रूप में यति, पाणि व लय का उल्लेख किया है, "अङ्गभूता हि तालस्य यतिपाणिलया: स्मृता:।"[6] लय की परिभाषा में भरत ने

१- संगीतरत्नाकर, प्रथमस्वरगताध्याय, श्लोक संख्या २१, पृ० सं० १३।

२- संगीतरत्नाकर - पञ्चमस्तालाध्याय, श्लोक संख्या - २, पृ० सं० ३५५।

३- नाट्यशास्त्र - एकत्रिंशोऽध्याय, श्लोक संख्या ५२५, पृ० सं० ३८१ अ

४- नाट्यशास्त्र - एकत्रिंशोऽध्याय, श्लोक संख्या ५२६, पृ० सं० ३८१।

५- नाट्यशास्त्र - एकत्रिंशोऽध्याय, श्लोक संख्या ५२७, पृ० सं० ३८१।

६- नाट्यशास्त्र - एकत्रिंशोध्याय, श्लोक संख्या ५३०, पृ० सं० ३८२

काल या समय के अन्तर का उल्लेख किया है - 'कलाकालान्तरकृत स लयो नाम संज्ञित: ।'[१] लयों के तीन भेद 'त्रयो लयाश्च विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बिता:'[२] उल्लिखित है । पदों को स्वर एवं ताल का अनुभावक या निर्देशक भरत ने माना है - 'पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावकम्'[३], ताल की सार्थकता गायन, वादन एवं नृत्य में कितनी अधिक है, उसका भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है - 'यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादक: ।'[४] इस प्रकार उनके मतानुसार जिसे तालों का ज्ञान नहीं उसे गायक या वादक नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार काव्य में जो छन्द है, संगीत में वही ताल है । छन्द जीवन में गति, काव्य में ध्वनि या भाषा का वैशिष्ट्य एवं संगीत में कंठ या वाद्य की ध्वनि का नियमित प्रवाह है । सौन्दर्य का क्रमिक विकास ही छन्द की क्रिया है, इसीलिये छन्दशास्त्र में उल्लेख है कि जिसे सौन्दर्य बोध हो उसे छन्दबोध रहता है । सुस्वादु भोजन भी जिस प्रकार नमक के अभाव में अरुचिकर होता है, उसी प्रकार उत्कृष्ट काव्य छन्द के अभाव में एवं उत्कृष्ट संगीत ताल के अभाव में अप्रिय हो जाता है, यह तत्व काव्यात्मक अथवा सांगीतिक सौन्दर्यबोध से इतना घुला मिला है कि छन्द या ताल शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान न रखने वालों को भी उन तत्वों की परोक्ष अनुभूति होती रहती है । इस प्रकार छन्द आवेग का वाहन है, वह एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान साधन है । छंद के आवर्जन से कविता की प्रेषणीयता का सम्बन्ध है, वह भाव को सहृदय के प्राणों में रमण कराने वाला समर्थ साधन

१- नाट्यशास्त्र - एकत्रिंशो ध्याय, श्लोक संख्या ५३५, पृ० सं० ३८२ ।

२- नाट्यशास्त्र - एकत्रिंशो ध्याय, श्लोक संख्या ५३१, पृ० सं० ३८२ ।

३- नाट्यशास्त्र - द्वात्रिंशो ध्याय, श्लोक संख्या २५, पृ० सं० ३८५ ।

४- नाट्यशास्त्र - एकत्रिंशो ध्याय, श्लोक संख्या ५३०, पृ० सं० ३८२ ।

माना गया है तथा इसके साथ ही एक प्रकार के लयात्मक प्रभाव की सृष्टि करता हुआ वह पाठक या श्रोता को रस विमुग्ध भी करता है । गीत का छन्द विधान मात्रिक होता है, किन्तु उसके मात्रिक विधान का कोई निश्चित और एक रूप संभव नहीं होता तथा गीत का कोई निश्चित मात्राओं वाला एक छंद नहीं होता है । संगीत की लय के आधार पर उसकी मात्राएं और रूप विन्यास निर्भर है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न लयों के अनुरूप भिन्न-भिन्न छन्द रूप अपनाये जाते हैं ।

इस प्रकार यह भी स्पष्ट हो गया कि जीवन में छन्द या लय का साधारणीकरण प्रतिदिन के कार्यों में सहज ही उपलब्ध है एवं यही उपलब्धि काव्य में छन्द एवं संगीत में ताल बनकर समाहित है । काव्य छन्द में अक्षरों का माप मात्राओं के द्वारा होता है जो संस्कृत व्याकरण के अनुसार लघु एवं गुरु कहलाते हैं, संस्कृत काव्य में प्रत्येक श्लोक के चार पद अथवा चरण होते हैं । तालों में जिस प्रकार सम, अर्द्धसम एवं विषम मात्राओं के खण्ड होते हैं, तदनुरूप संस्कृत छन्दशास्त्र में सम, अर्द्धसम, एवं विषम पदों का उल्लेख है, जिन श्लोकों के चारों पद समान अक्षरों द्वारा रचित हो उन्हें समवृत्त, जिनका अर्द्ध भाग दूसरे पद के अर्द्धभाग से समान हो उन्हें अर्द्धसम वृत्त एवं जिनमें चारों पद विभिन्न प्रकार के हों, उन्हें विषम वृत्त कहा जाता है । जिस प्रकार संगीत में मात्राओं के द्वारा छन्द का निरूपण होता है, उसी प्रकार काव्य में गणों के द्वारा छन्दों का निरूपण होता है । संस्कृत छन्द, वृत्त और जाति भेद के अनुसार द्विविध है, अक्षरगणना नियम से निबद्ध छन्द का नाम वृत्त अथवा अक्षर वृत्त एवं मात्राओं की संख्या के अनुसार रचे हुए छन्दों का नाम जाति अथवा मात्रावृत्त होता है ।

(२) <u>लय -:-</u>

लय रागकाव्य का मूल आधार है, कोई भी गीत किसी लय अथवा धुन के अभाव में लिखा नहीं जा सकता । इसी लय अथवा धुन का

विशिष्ट रूप 'राग' है। एक ही गीत को भिन्न-भिन्न लयों अथवा धुनों की भांति भिन्न-भिन्न राग रागिनियों में गाया जा सकता है, वास्तव में गीत का जन्म भी तभी संभव है जब कवि की अनुभूति का आवेश किसी लयात्मक संगीत में आविष्ट होकर प्रकट होता है, इसलिये अनुभूति को यदि गीत की आत्मा कहा जाय और शब्दात्मक अभिव्यक्ति को उसका शरीर तो संगीत तत्व अथवा उसकी लय को उस शरीर में प्रवाहित रक्तधारा कहना होगा, जिसके अभाव में शरीर का सौन्दर्य ही नहीं, अस्तित्व भी असम्भव है। इस प्रकार अनुभूति के अनुरूप ही लय का विधान होता है। संगीतशास्त्र के अनुसार दो क्रियाओं के बीच में रहने वाले अवकाश का नाम लय है। अमरकोष के अनुसार 'ताल: कालक्रियामानं लय: साम्यमथास्त्रियाम्' अर्थात ताल में काल और क्रिया की साम्यता लय है।[१]

प्राचीनकाल से तीन विभिन्न लयों का उल्लेख संगीतशास्त्रों में है --

१- द्रुत लय

२- मध्य लय

३- विलम्बित लय

इनका प्रयोग संगीत में विभिन्न रस एवं भावों के सृजन हेतु किया जाता है, शास्त्राधार है कि विलम्बित लय में करुण, मध्य लय में शान्त, हास्य व शृङ्गार एवं द्रुत लय में रौद्र, वीभत्स, भयानक, वीर और अद्भुत रसों का सफलतापूर्वक प्रदर्शन सम्भव हो सकता है।

संगीत में समय की समान गति को लय कहते हैं।[२] सामान्यत:

१- अमरकोष - प्रथमकाण्ड, श्लोक संख्या ६, पृ० सं० ६६।

२- ताल परिचय - (भाग २) पृ० सं० ७४।

'लय' शब्द के दो अर्थ होते हैं, १- सामान्य शाब्दिक और २- पारिभाषिक। लय का स्पष्ट शाब्दिक अर्थ है संयोग, एकरूपता, जब किसी की आवाज किसी स्वर नालिका की ध्वनि से मिल जाती है, तो कहते हैं कि गायक ने लय के साथ श्रुति पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया है, किन्तु जब हमारा मस्तिष्क किसी वस्तु अथवा विचार में लीन हो जाता है तो कहते हैं कि वह लय की स्थिति में है, इस प्रकार 'लय' शब्द का प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों और अर्थों में किया जाता है। पारिभाषिक अर्थ में लय को तालों एवं कालमाप का आधार माना जाता है, गति ही प्रकृति की सम्पूर्ण क्रियाओं का आधार है, दिक् एवं आकाश के नक्षत्रों की गति से लेकर घास के स्पन्दन तक प्रकृति की समस्त क्रियाएं कतिपय मूलभूत नियमों पर आधारित है। यह सर्वविदित है कि किसी राग में स्वर विशेष का विस्तार या संक्षेप मात्र से भाव में अन्तर आ जाता है, संगीत रचना के भाव पर समय का यथेष्ट प्रभाव पड़ता है, शास्त्रीय नृत्य-कला में ताल के इस पक्ष का पूर्ण निर्वाह हुआ है, इसे काल प्रमाण कहा गया है, जिसका अर्थ है, भावलक्ष्यानुरूप लय। किसी भी संगीत रचना में साहित्य राग ताल और काल प्रमाण में सन्तुलन परमावश्यक है। प्रत्येक रचना का अपना काल प्रमाण (लय) होता है। कतिपय रचनाएं 'मध्यलय' की होती है जिसका अर्थ है कि मध्यलय उन रचनाओं के लिये अधिक अनुकूल है, इसी प्रकार विलम्बित लय की रचना और द्रुतलय की रचना के सम्बन्ध में धारणा है। इसी प्रकार यदि किसी मध्य लय की रचना को विलम्बित लय में गाया जाय तो वह उतनी प्रभावोत्पादक नहीं होगी जितनी कि उसे मध्य लय में गाये जाने से होगी। अतः इन सभी पक्षों को ध्यान में रखकर किये गये काल प्रमाण लय सम्बन्धी निर्णय से रचना के श्रेष्ठतम तत्व एवं परिणाम को प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। इस प्रकार उपर्युक्त संगीतशास्त्र से सम्बन्धित यह सभी बातें संस्कृत के रागकाव्यों के गीतों में परिलक्षित होती है। संस्कृत के रागकाव्यों में काव्य और संगीत दोनों का ही समन्वय प्राप्त होता है। काव्य और संगीत दोनों ही लय पर अवलम्बित है, काव्य की रचना छन्दों

में होती है, छन्द ही के आधार पर कवि अपने भावों को काव्य का रूप प्रदान करता है, अतः छन्द लय के ही आधार पर टिका हुआ नाद विधान है, तथा छन्द में प्राण प्रतिष्ठा करने वाला यही तत्त्व है । इस प्रकार छन्द और लय एक दूसरे के पूरक हैं, तात्पर्य यह है कि एक के बिना दूसरे की गति सम्भव नहीं है, यह भी देखा गया है कि छन्दयोजना ही अपने मूल में लयबद्ध है, छन्दों के नियम इस प्रकार हैं कि वे स्वतः लय में उतरते जाते हैं । काव्य की भांति संगीत का आधार भी लय है । संगीत वह ललित कला है जिसमें व्यक्ति अपनी भावनाओं को स्वर और लय के माध्यम से अभिव्यंजित करता है । लय के सहयोग से ताल में विभाजित करने के उपरान्त ही गायक अथवा वादक के पदों या गीतों को स्वरों में बांधकर गाया जाता है, यह भी देखा गया है कि काव्य में संगीत माधुर्य को प्रस्फुटित करने के लिये जिस प्रकार भावानुकूल कोमल तथा परुष शब्दों का चयन करना अनिवार्य है, उसी प्रकार लय का भी विवेकपूर्ण प्रयोग होना चाहिये, भाव की जहां जैसी गति हो वहां वैसी ही लय प्रयुक्त की जानी चाहिये, प्रत्येक छन्द की अलग-अलग गति होती है, इसलिये विभिन्न भावों को प्रकट करने के लिये विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया जाता है । कुशल कवि रस तथा भावानुकूल छन्द चयन द्वारा संगीत के अनुकूल वातावरण उपस्थित करने में समर्थ होता है । इस प्रकार काव्य को माधुर्य और सार्वभौमता के गुण से अलंकृत करने के लिये कवि की भाषा संगीत का आश्रय ग्रहण करती है । काव्य में लय का बन्धन संगीत की महत्ता की स्वीकृति का ही उदाहरण है । ताल, लय और स्वर द्वारा संगीत में हमारे मनोभावों को तरंगित करने की अद्भुत क्षमता है । अतः काव्य लय के माध्यम से संगीत का आश्रय ग्रहण करके हमारे मनोवेगों को तीव्र भाव से जाग्रत और उद्वेलित कर देती है । लय काव्य को स्वाभाविक रूप से संगीतात्मकता प्रदान करती है, और अपनी इस किंचित संगीतमयता के कारण माधुर्य और सरसता तो भावों के साथ लाती ही है साथ ही एक प्रवाह शक्ति और लोच भी उत्पन्न कर देती है ।

(३) ध्रुवक या टेक:—

संगीतशास्त्र के नियमानुसार संस्कृत के रागकाव्यों के गेयपदों में ध्रुवक (टेक) का होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ध्रुवक के बिना भी पद गेयपद की कोटि के अन्तर्गत नहीं आ सकता है, इसे संगीतज्ञ "टेक" भी कहते हैं, अत: रागकाव्यों में ध्रुवक का होना आवश्यक है ।

ध्रुवक यानि टेक को एक प्रकार से गीत का मूल कह सकते हैं, शास्त्रीय संगीत की शब्दावली में टेक स्थायी कही जा सकती है, इन पदों में पद की प्रथम पंक्ति अन्य पंक्तियों की अपेक्षा छोटी होती है । जिसे स्थायी पद अथवा टेक कहते हैं । प्रत्येक दो चरणों के पश्चात् प्रथम पंक्ति की आवृत्ति की जाती है, अन्य सब पंक्तियों में मात्राएं समान होती हैं, एक निश्चित अन्तर के उपरान्त बार-बार टेक की आवृत्ति होने से पद में संगीत की अपूर्व झंकार तथा ध्वनि सौन्दर्य प्रकटित होने लगता है । उदाहरणस्वरूप गीतगोविन्द रागकाव्य में ध्रुवक का प्रयोग इस प्रकार है —

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।। ध्रु ।।१।।
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसङ्कुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे ।। वि० ।। २ ।।

इस प्रकार टेक की पंक्ति गीत की अन्य पंक्तियों या चरणों में गाये जाने के पश्चात् पुन: दुहराई जाती है, टेक का यह पुनरावर्तन कभी एक ही पंक्ति के बाद आता है, तो कभी सम्पूर्ण पद अर्थात दो तीन या चार पंक्तियों के बाद आता है । एक दृष्टि से "टेक" का उपयोग काव्यात्मक दृष्टि से होता है,

अर्थात् गीत के शब्द में वह 'टेक' अर्थ सहित होता है, तथा सांगीतिक सौन्दर्य व लय की दृष्टि से उसका महत्त्व गीत के लिये अवश्य ही आता है। 'टेक' के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है कि यह 'टेक' एक पंक्ति का भी होता है और कभी एक से अधिक पंक्तियों का भी।

(४) प्रबन्ध :-

संस्कृत के रागकाव्य में प्रबन्ध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयदेव के प्रत्येक गीत के लिये काव्य में कहीं प्रबन्ध और कहीं अष्टपदी का प्रयोग हुआ है।[१] आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध शब्द का प्रयोग प्रबन्ध काव्य के लिये किया है जो इस प्रकार है। यथा -

> 'प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन बन्धुमिच्छता।
> यत्न: कार्य: सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ।।'[२]

आशय यह है कि इस शब्द का प्रयोग काव्यमर्मज्ञों द्वारा इसी अर्थ में होता है। भोज ने जयदेव द्वारा गीत के लिये प्रयुक्त प्रबन्ध शब्द के आधार पर एक परिभाषा ही निर्मित कर ली है कि - 'शृङ्गाररसप्रधान स्वरतालल्यबद्ध' रचना ही प्रबन्ध

१- अष्टपदी प्रयोग के लिये, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृत विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित 'गीतगोविन्द' और प्रबन्ध शब्द के प्रयोग के लिये संस्कृत साहित्य परिषद उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद से प्रकाशित 'गीतगोविन्द'।

२- ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत, कारिका १७, पृ० सं० ३६५।

है। परिभाषा इस प्रकार है।

'शृङ्गारैकप्रधानो यो गीततालादिसंयुत: ।
अभिसारार्थनिपुण: प्रबन्ध: सम्प्रकीर्तित: ।।'[1]

गीतगोविन्द के संजीवनी टीकाकार श्री वनमाली भट्ट ने भी प्रबन्ध शब्द की व्याख्या इसी प्रकार की है।

'प्रकर्षेण बन्धो न्योन्यासक्तिरूपो नायिकानायकयोर्यत्र स प्रबन्ध:।[2]

संगीत में प्रबन्ध को 'गीत' का एक प्रकार माना गया है। काव्य के क्षेत्र में प्रबन्ध पृथक् है तथा संगीत के क्षेत्र में जो प्रबन्ध है वह भिन्न है। प्राचीन संगीत शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है -

चतुर्भिर्धातुभि: षड्भिश्चाङ्गैर्यस्मात्प्रबध्यते ।
तस्मात्प्रबन्ध: कथितो गीतलक्षणकोविदै: ।।[3]

तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध को गीत का एक प्रकार माना गया है, जिसमें चार धातुएं और छ: अङ्ग होते हैं। चार धातुएं इस प्रकार हैं --

१- उद्ग्राह (२) मेलापक (३) ध्रुव (४) आभोग

छ: अंग इस प्रकार है —

(१) स्वर (२) विरुद (३) पद (४) तेन (५) पाट (६) ताल

१- संस्कृत साहित्य परिषद्, ह उस्मानिया विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'गीतगोविन्द' की संजीवनी टीका में भोज के नाम से उद्धृत, पृ० ७।

२- गीतगोविन्द की संजीवनी टीका, पृ० सं० ८।

३- संगीतरत्नाकर - चतुर्थ प्रबन्धाध्याय, पृ० सं० १६४।

इस प्रकार स्वर के अन्तर्गत राग विशेष के स्वर विरुद में गुण सूचक शब्द, तेन में मंगलसूचक शब्द और पद में इसके अतिरिक्त शब्द आते हैं । अत: ये तीन अंग मुख्यत: पद के रूप में ग्राह्य हो सकते हैं, पाट में मृदंग के बोल और ताल में वह ताल विशेष जिसमें प्रबन्ध को सुबद्ध किया गया हो, इन दोनों में 'ताल' अंश को ही प्रधानता है, इस प्रकार प्रबन्ध में स्वर ताल और पद को ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु विविधता की दृष्टि से अन्य अंगों का भी महत्वपूर्ण स्थान है । इस प्रकार यह प्रबन्ध जिसे आज की बंदिश का पर्याय भी कह सकते हैं । क्योंकि संगीतशास्त्र के नियमानुसार स्वर, ताल और पद में सुबद्ध और सुनियोजित रचना को बंदिश कहते हैं । गान के दो भेद हैं —(१) निबद्ध गान (२)अनिबद्ध गान । 'बंदिश' निबद्ध गान के अन्तर्गत आती है ।

संगीत के सूक्ष्म सौन्दर्य को विविध रूपों में व्यक्त करने के लिये तथा उसे व्यापक रूप से सामाजिकों के लिये ग्राह्य बनाने के लिये संगीत में 'बंदिश' का विधान किया गया है । 'बंदिश' राग की आकृति का दर्पण है, जिसमें राग के स्वरूप और चलन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, इस प्रकार बंदिश रहित राग के स्वरूप को निराकार ब्रह्म और बंदिश सहित राग के रूप को साकार ब्रह्म की उपमा दे सकते हैं । दोनों में गुणों की समानता है, अन्तर केवल सूक्ष्मता और स्थूलता का है । बंदिश के द्वारा राग के अन्त: स्वरूप को एक सुनिश्चित रूप मिलता है, अभिप्राय यह है कि उसकी आकृति स्पष्ट रूप से सामने आती है । अनेक बंदिशों द्वारा राग के विविध प्रकार से चलन की जानकारी भी होती है । वास्तव में विभिन्न गायन शैलियों अथवा बंदिशों का रूप, विस्तार, गति और प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है, एक ही गायक एक ही राग में विभिन्न बंदिशों को प्रस्तुत करके विभिन्न वातावरण की सृष्टि करता है । अतएव 'बंदिश' के मूल तत्व क्या हैं, उसकी पृष्ठभूमि में कौन-कौन से सामान्य व विशिष्ट सिद्धान्त निहित होने चाहिये तथा बंदिश की रचना-प्रक्रिया में कौन-कौन से तत्व महत्वपूर्ण हैं, इन तथ्यों का निरूपण संगीत के गानपक्ष को लेकर करेंगे ।

भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में इस प्रकार उल्लेख किया है —

गान्धर्वमिति विज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयम् ।[१]

तात्पर्य यह है कि गान्धर्व (गीतवाद्य) को स्वर ताल पद का संग्रह कहा है, ये स्वर ताल और पद ही आज की `बंदिश` के मूल तत्व हैं ।

`स्वरतालानुभावकम् गान्धर्व` में प्रयोज्य वस्तु को `पद` कहा जाता है ।[२]

इस प्रकार पद अथवा बंदिश स्वर ताल से युक्त होती है, अत: गीत के सौन्दर्य गुण को इन शब्दों में वर्णित किया गया है ।

रंजक: स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते ।[३]

तात्पर्य यह है कि गीत रंजक अर्थात् मनोहर स्वर संदर्भों से युक्त होता है । अत: सौन्दर्य दृष्टि से बंदिश का प्रथम सामान्य सिद्धान्त यह है कि बंदिश रंजक स्वर सन्निवेशों से युक्त होनी चाहिये । `बंदिशों` के द्वारा राग का स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये, राग के शास्त्रीय नियम बंदिश में मुखरित होने चाहिये, राग का विशिष्ट चलन, राग के वादी स्वर की प्रधानता, राग के अल्पत्व बहुत्व, विशिष्ट स्वर संगतियों का प्रयोग आदि तत्व बंदिश में भी स्पष्ट होने चाहिये । बंदिश के लिये पदों का चयन राग के गायन समय के अनुसार करना चाहिये, जैसे - ऋतु कालीन रागों में बंदिश के शब्द उस ऋतु विशिष्ट के वर्णन से युक्त होना चाहिये,

---

१- नाट्यशास्त्र - अष्टाविंशोऽध्याय (२८ वाँ अध्याय), श्लोक ८, पृ० सं० ३१६।

२- गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम् ।
पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावकम् ।।
- नाट्यशास्त्र - अष्टाविंशोऽध्याय, श्लोक २५, पृ० सं० ३८५ ।

३- संगीतरत्नाकर - चतुर्थप्रबन्धाध्याय, श्लोक १, पृ० सं० १८७।

बंदिश के स्वरों का अन्त: चलन व स्वर शृंगार भी राग की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिये। जैसे गम्भीर प्रकृति के रागों में मींड़, गमक का प्रयोग तथा झटके मुर्कों का अल्पत्व अथवा निषेध होता है। बंदिश के लिये विशिष्ट गान शैली (ध्रुवपद, ख्याल, ठुमरी आदि) तथा शैली की गति (विलम्बित मध्य अथवा द्रुत के अनुरूप ही शब्दों का चुनाव रचना करनी चाहिये।

इस प्रकार बंदिश के राग और काव्य में भावात्मक एकरूपता होनी चाहिये, चाहे राग के लिये काव्य का चुनाव हो अथवा काव्य के लिये राग का चुनाव हो, राग को प्रकृति के अनुसार ही पदों की रचना या चयन करना चाहिये। बंदिश के पद की प्रथम पंक्ति यथासंभव ताल के एक आवर्तन में ही पूर्ण हो जानी चाहिये, बंदिश के पद की प्रथम पंक्ति में गीत के भाव का सार निहित होना चाहिये, क्योंकि रागविस्तार में प्रथम पंक्ति की पुनरावृत्ति होती है, बंदिश के लिये ताल का चयन भी विशिष्ट गीत विधा के अनुरूप करना चाहिये, बंदिश का सम यदि राग के वादी स्वर पर स्थापित हो तो वह प्रत्येक दृष्टि से उचित और सुन्दर होगा। इस प्रकार राग की प्रकृति, बंदिश की गति, काव्य का भाव और गायन शैली में तादात्म्य होना चाहिये। अत: सामान्य सिद्धान्त अधिकांशत: प्रत्येक बंदिश में घटित होते हैं। इस प्रकार स्वर, ताल, पद ही बंदिश के प्रमुख सर्जक तत्व है। इसी प्रकार प्रबन्ध में भी स्वर, ताल और पद की प्रधानता होती है। संस्कृत के रागकाव्यों में सर्गों का विभाजन प्रबन्धों में इस प्रकार किया गया है कि उन्हें संगीतबद्ध किया जा सके। प्रत्येक सर्ग में प्रबन्धों की संख्या भिन्न है, किन्तु फिर भी सभी प्रबन्ध नियमानुसार मात्रावृत्तों में है ; कभी-कभी उससे पूर्व या पश्चात् में श्लोक आते हैं जो अनिवार्यत: गणवृत्तों में है। यह सब लय और तान का मोहक,वैविध्यपूर्ण तरंगाकुल रचना की सृष्टि करते हैं। गणवृत्तों में होने के कारण श्लोकों का सस्वर पाठ किया जाता है, जबकि मात्रावृत्तों में रचित प्रबन्ध का संगीतबद्ध गायन होता है। इस प्रकार संगीतमय लयात्मक साहित्यिक रचना हृदय को वास्तविक शान्ति प्रदान करती है। इस प्रकार काव्य का साहित्यिक पक्ष

काव्यात्मक प्रतिबिंबों की सर्जना के द्वारा हृदय को स्पर्श करता है तथा इसके साथ ही साथ प्रबन्ध जिस संगीत और लय में आबद्ध होता है वह शृङ्गारिक परितृप्ति देता है । इस प्रकार रागकाव्यों में साहित्य और संगीत का सुन्दर गठबन्धन हुआ । संस्कृत के रागकाव्यों में प्रबन्धों की रचना विशिष्ट राग तथा ताल में की गयी है । राग और ताल का आधार यही अष्टपदियां है, मात्रावृत्तों में रची ये अष्टपदियां सहज संगीत से परिपूर्ण हैं तथा इन अष्टपदियों में प्रत्येक बार आठ ही पद हो यह अनिवार्य नहीं है । प्रबन्धों में विद्यमान यह नाट्यतत्व, नृत्यसंगीत का रूप प्रदान करता है । इस प्रकार रागकाव्यों में काव्य, नाट्य, संगीत और नृत्य इन चारों को समाहित करने की अद्भुत क्षमता है । संगीत और नृत्य के लिये लय उसी प्रकार सहायक है जैसे - नृत्य और काव्य के लिये नाट्यकला ।

इस प्रकार रागकाव्यों में संगीत की दृष्टि से जो राग का विधान किया है, उसके द्वारा प्रत्येक रस के विशिष्ट भावों का प्रकाशन किया जाता है, तथा विभिन्न स्वरों के सुन्दर तथा समुचित मेल से विशिष्ट रागों के गाने से विशिष्ट चित्र अंकित होते हैं, और यदि काव्य का भाव उसी भाव को प्रकट करने वाले राग में उतारा जाय तो इससे न केवल काव्य का सौन्दर्य ही द्विगुणित होता है, वरन् काव्य में जीवन प्रकट हो जाता है, तथा भाव की सरल, स्पष्ट तथा उपयुक्त व्यंजना के द्वारा उस भाव का स्वरूप मूर्तिमान होकर नेत्रों के सम्मुख अंकित हो जाता है । इस प्रकार साहित्य के भावों में संगीत के इस उचित संयोग से शब्दों के अर्थ तीव्रतम तथा सरलतम रूप में स्पष्ट हो जाते हैं, तथा उसकी अनुभूति में मानव को नैसर्गिक आनन्द प्राप्त होता है । राग-काव्यों में बसन्त, गुर्जरी, कर्णाट, रामकिरी, भैरवी आदि रागों का प्रयोग हुआ है, इसके अतिरिक्त एकताली, रूपक अष्टताल, यति ताल आदि तालों का प्रयोग हुआ है ।

रागकाव्य का खण्डकाव्य एवं गीतिकाव्य से अन्तर

(ग) रागकाव्य का खण्डकाव्य से अन्तर --

खण्डकाव्य में जीवन की किसी एक मार्मिक घटना का इतिवृत्त होता है तथा खण्डकाव्य में आंशिक कथानक का प्रबद्ध वर्णन होता है। उसका कथानक महाकाव्य की अपेक्षा छोटा होता है। उसमें जीवन का व्यापक और बहुमुखी रूप चित्रित नहीं होता, किसी एक अंश को ही कथानक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत संस्कृत के रागकाव्यों में सम्पूर्ण कथा को गेय पदों में प्रस्तुत किया जाता है। राग काव्य में जो कथा प्रस्तुत की जाती है वह संक्षिप्त होती है। उदाहरण स्वरूप -- 'अभिनवगुप्त ने 'राघवविजय' और 'मारीचवध' को रागकाव्य कहा है, क्योंकि इसमें सुकुमार मसृण और उद्धत नृत्तों का प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार शुद्ध नृत्तों में गीत अर्थात् कथात्मक काव्यों के संयोग की चर्चा अभिहित की गयी है।[१] इस सन्दर्भ में नृत्त से तात्पर्य यह है कि यह ताल और लय पर आश्रित होता है, अर्थात् चच्चपुट हाथ की ताली इत्यादि ताल है, द्रुत, विलम्बित, मध्य आदि लय है। केवल उन्हीं 'ताल, लय' पर आश्रित होने वाला अङ्ग विक्षेप (अंगों का संचालन) नृत्त कहलाता है। इसमें अभिनय बिल्कुल नहीं होता है। यही कारण है कि नृत्य और नृत्त में सूक्ष्म अन्तर यह है कि नृत्य में शास्त्रीय पद्धति के अनुसार पदार्थ का अभिनय होता है, इसी से इसे मार्ग भी कहा जाता है किन्तु नृत्त में कोई अभिनय नहीं होता ; इसमें जो अंग विक्षेप होता है, वह शास्त्रीय पद्धति के अनुसार नहीं, लोकसरणि के अनुसार होता है। इसीलिये इसे देशी कहा जाता है। यही कारण है कि नृत्य भाव पर आश्रित होता है, और नृत्त ताल और लय पर आश्रित है। इस प्रकार काव्य और राग के

१- नाट्यशास्त्र, लेखक रघुवंश, पृ० सं० १५५ ।

सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य कोहल ने कहा है कि —

> लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विचित्रितम् ।
> नानारसं सुनिर्वाह्यकथं काव्यमिति स्मृतम् ।।[१]

आशय यह है कि जिसके अन्तर्गत लय का प्रयोग होता है, उसे राग कहा जाता है और जिसमें अनेक रसों वाली कथा का सुन्दर निर्वाह होता है, उसे काव्य की संज्ञा प्रदान की गयी ।

इस प्रकार रागकाव्यों के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि जयदेव के पहले इस प्रकार के रागकाव्यों के लिखने की परम्परा थी जयदेव का गीतगोविन्द काव्य भी उसी परम्परा का प्रतीक है । यही कारण है कि संस्कृत के रागकाव्यों में जो गीत होते हैं, उनमें रागों तालों आदि का प्रयोग किया जाता है । इनके गीतों में संगीतशास्त्र के नियमानुसार 'ध्रुवक' का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होता है । 'ध्रुवक' को आज के संगीतज्ञ 'टेक' भी कहते हैं । इसके बिना कोई भी पद गेयपद की कोटि के अन्तर्गत नहीं आ सकता है । इनके गीतों का संगीतमय अभिनय भी किया जाता है । उदाहरणस्वरूप जयदेव का 'गीतगोविन्द' रागकाव्य के अन्तर्गत माना जाता है, क्योंकि इनके गीतों में रागों तालों का समुचित रूप से प्रयोग हुआ है । रागकाव्यों में सभी प्रबन्ध नियमानुसार मात्रावृत्तों में निबद्ध है । अतएव मात्रावृत्तों में रचित होने के कारण शास्त्रीय संगीत के अनुसार उनका गायन और अभिनय भी किया जाता है । इस प्रकार मात्रावृत्त मे बद्ध पद ही रागकाव्य की कोटि के अन्तर्गत आते हैं । इन रागकाव्यों का सर्गों तथा प्रबन्धों में विभाजन हुआ है ।

१- भोजकृत शृङ्गारप्रकाश, सम्पादक डा० वी० राघवन, २० वां अध्याय, पृ० सं० ५४५ ।

साहित्य दर्पण के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य का भी लक्षण दिया है, उनके अनुसार काव्य में जीवन का एक पक्ष विशेष रूप से चित्रित होता है, तथा उस विशेष पक्ष की एक अंश या घटना ही खण्डकाव्य की वस्तु का आधार बनती है। विश्वनाथ ने खण्डकाव्य का उदाहरण मेघदूत दिया है, उससे यह स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है कि यक्ष एवं उसकी प्रिया के प्रेम व्यापार की पूर्ण कथा "काव्य" की वस्तु बन सकती है, जिसमें उनके बाल्यकाल, पूर्वराग, विवाह और पारिवारिक जीवन में प्रेमाकर्षण के चित्र वर्णित होते हैं, परन्तु मेघदूत में उसके एक अंश विदेश गमन के समय नायिका के विरह का वर्णन है, अत: यह न तो काव्य और न महाकाव्य ही रहा, केवल खण्डकाव्य मात्र बना। यही कारण है कि खण्ड प्रबन्ध में कथा का सूत्र रहता है, खण्डकाव्य की कथा समग्र जीवन से सम्बन्धित और विस्तृत नहीं होती, अपितु उसका एक खंड मात्र ही होता है। खण्डकाव्य का नायक सुर, असुर, मनुष्य, इतिहास प्रसिद्ध अथवा कल्पित तथा शान्त, ललित, उदात्त और उद्धत में से किसी भी प्रकार का हो सकता है। खण्डकाव्य में नायक के जीवन की एक घटना का वर्णन होता है, जो जीवन के किसी एक पक्ष की झलक प्रस्तुत करता है। जबकि रागकाव्य में नायक को दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल इन कोटियों में विभक्त किया है, तथा नायक का यह विभाजन नायिका के साथ उसके व्यवहार को ध्यान में रखकर किया जाता है।

खण्डकाव्य में उत्कण्ठिता, अभिसारिका, प्रोषित भर्तृका आदि रूप वाली नायिकाओं का वर्णन प्राप्त होता है। रागकाव्य में भी उत्कण्ठिता, अभिसारिका, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, स्वाधीन भर्तृका, वासकसज्जा आदि रूप वाली नायिकाओं का वर्णन और निरूपण प्राप्त होता है, प्रोषित भर्तृका रूप वाली नायिका का वर्णन इसमें प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि इसका नायक यात्रा पर अन्यत्र नहीं गया है। खण्डकाव्य में कथा संगठन आवश्यक है तथा कथा विन्यास में क्रम, आरम्भ, विकास, चरम सीमा और निश्चित उद्देश्य का होना आवश्यक है। खण्डकाव्य में सर्गबद्धता का होना अनिवार्य नहीं है, जबकि

रागकाव्य में सर्गों के रूप में विभाजन अनिवार्य है । खण्डकाव्य में प्रासंगिक कथाओं का प्राय: अभाव होता है, इसके विपरीत रागकाव्य में प्रासंगिक कथाओं का सद्भाव होता है । खण्डकाव्य अपने छोटे आकार में ही पूर्ण होता है तथा इसमें एक रस समग्र अथवा अनेक रस असमग्र रूप में रहते हैं । खण्डकाव्य में सभी सन्धियां नहीं होती हैं । रागकाव्य में इन सन्धियों का अभाव होता है ।छन्द विधान की दृष्टि से खण्डकाव्य में कवि अपने कौशल के आधार पर एक या अनेक छन्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु प्रभाव एवं प्रवाह की दृष्टि से खण्डकाव्य के अल्पाकार में एक छन्द का निर्वाह व्यवहारिक रूप से उचित प्रतीत होता है यही कारण है कि उसकी कथा आद्यन्त एक ही छन्द में लिखी जाती है तथा विविध छन्दों में भी । खण्डकाव्य में कथावस्तु की लघुता के कारण न तो समाप्ति में छन्द परिवर्तन आवश्यक होता है और न आगे आने वाली कथा की सूचना देने की ही आवश्यकता पड़ती है । इसलिये खण्डकाव्य यदि एक छन्द में लिखा जाता है तो लघु आकार के कारण पाठक को ऊब नहीं मालूम होती तथा एक रस के वर्णन के लिये अधिक छन्दों की कोई आवश्यकता नहीं होती और यदि अनेक रस भी हो तो उसकी असमग्रता के कारण एक ही छन्द वहां पर्याप्त होगा । इसके विपरीत रागकाव्य में अनेक छन्दों का प्रयोग होता है । उदाहरणस्वरूप वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं । खण्ड-काव्य के पदों में `ध्रुवक` का प्रयोग नहीं हुआ है, इसके विपरीत रागकाव्य के गीतों में `ध्रुवक` का समुचित रूप से प्रयोग हुआ है । खण्डकाव्य के पदों में राग, ताल आदि का प्रयोग नहीं हुआ है, जबकि रागकाव्य के गीतों में रागों,तालों आदि का प्रयोग प्राप्त होता है । खण्डकाव्य में प्रकृति के एक आदि अंग का वर्णन किसी-किसी खण्डकाव्य में प्राप्त हो जाता है । इसके विपरीत रागकाव्य में प्रकृति का वर्णन अनिवार्य रूप में प्राप्त होता है ।

आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य को एकदेशानुसारि कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि खण्डकाव्य वस्तुयोजना की दृष्टि से काव्य के एक देश, एक अंश का अनुसरण करता है । काव्य की प्रतिपाद्य वस्तु का जो आकार प्रकार

होता है उसका एक देश, एक घटना ही हो सकती है । अत: काव्य में यदि नायक के जीवन के किसी पक्ष विशेष की सम्पूर्ण घटनाएं संयोजित हो जाती है तो खण्डकाव्य में जीवन के किसी पक्ष विशेष की एक ही घटना समाविष्ट हो पाती है । जबकि रागकाव्यों में कथा की योजना बहुत अल्प होती है, भावों की उद्भावना में ही उनका विस्तार होता है, प्रणय के वियोग में उनका आदि अन्त रहता है । प्रबन्धकाव्य के समान इस काव्य का सम्पूर्ण कथानक एकसूत्रता से आबद्ध रहता है । संस्कृत साहित्य में खण्डकाव्य की स्वतंत्र परम्परा का विकास देखने को नहीं मिलता है, किन्तु फिर भी कालिदास के मेघदूत एवं उसके अनुकरण पर लिखे गये दूतकाव्य ही खण्डकाव्य के उदाहरण के रूप में प्राप्त होते हैं । यही कारण है कि कालिदास के पश्चात संस्कृत में दूतकाव्य की एक परम्परा चल पड़ी थी । इसके विपरीत गीतगोविन्द रागकाव्य के जितने अनुकरण हुए हैं, उतने मेघदूत के नहीं हुए हैं । यही कारण है कि गीतगोविन्द एक साहित्यिक विधा ही बन गया और लगभग उसकी १५० अनुकृतियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है । खण्डकाव्य में वस्तु की भावात्मक अन्विति अधिक सुकर और सुसंभावित है, इस दृष्टि से वह गीतकाव्य के अधिक निकट है, खण्डकाव्य में जो गीततत्व प्रचुरमात्रा में विद्यमान है, वह शुद्ध गीतकाव्य नहीं है । इस प्रकार इन समस्त भेदों के आधार पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत के राग-काव्य खण्डकाव्य की कोटि में आ सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानना अनुचित है, क्योंकि रागकाव्य और खण्डकाव्य इन दोनों का पृथक् अस्तित्व है । अत: रागकाव्य को खण्डकाव्य मानना अनुचित है । रागकाव्य तथा खण्डकाव्य में एक अन्तर यह है कि खण्डकाव्यों में जो भी पद्य होते हैं उनमें राग ताल आदि का समावेश नहीं होता है । न ही उनके गीत शास्त्रीय पद्धति के अनुसार गाये ही जाते हैं, तथा रागकाव्य के गीत के समान इनमें 'धुवक' का भी प्रयोग नहीं हुआ है । इसके विपरीत रागकाव्य में जिन पद्यों या गीतों का प्रयोग होता है उनमें रागों तालों का समावेश होता है तथा उनके गीतों को गाने की प्रथा है । अत: राग, ताल, स्वर लय आदि से सम्बद्ध होने के कारण उन काव्यों को खण्डकाव्य

की संज्ञा न प्रदान कर रागकाव्य नाम देना उचित प्रतीत होगा, क्योंकि खण्ड-काव्य में इस प्रकार के रागों, तालों की किंचित्मात्र भी गुंजाइश नहीं होती है और न ही उनके गीत गाये जाते हैं। अत: यह कहना कि रागकाव्य खण्डकाव्य ही है, निरर्थक है। खण्डकाव्य तथा रागकाव्य में दूसरा महान अन्तर यह है कि खण्डकाव्य में विषय शृङ्गार आदि से परिपूर्ण होता है, परन्तु रागकाव्य में विषय शृङ्गारादि से परिपूर्ण तो होता है, किन्तु दूसरे स्तर पर उसका उद्देश्य शृङ्गार के माध्यम से भक्ति होता है। इस प्रकार खण्डकाव्य तथा रागकाव्य का मौलिक भेद स्पष्ट हो गया।

(घ) रागकाव्य का गीतिकाव्य से अन्तर —

भारतीय अलंकारशास्त्र के आचार्यों के मत में गीतकाव्य की कोई स्थिति नहीं है। भामह, वामन, रुद्रट, मम्मट, आनन्दवर्धन, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न भेदों और उपभेदों का वर्णन करते समय गीतकाव्य शब्द का प्रयोग तथा गीतात्मक कृतियों का विवेचन नहीं किया इससे साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने यह समझा कि गीत और गीतात्मक कृतियों के विवेचन, विश्लेषण का काम कलाविवेचक ग्रन्थों का है, इसी से भारतीय साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने इस प्रकार की चर्चा काव्य विवेचन के प्रसंग में नहीं की। संस्कृत साहित्य के पाश्चात्य इतिहास लेखक कीथ ने गीतकाव्य का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया है, इन्हीं इतिहास लेखकों से प्रभावित होकर भारतीय संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखकों ने कालिदास के मेघदूत, पण्डितराज जगन्नाथ के भामिनी विलास, अमरुकशतक, भर्तृहरिशतक प्रभृति रचनाओं को गीतकाव्य कहा है ; यह उचित नहीं है, किन्तु फिर भी प्रसंगानुसार गीतकाव्य से अन्तर इस प्रकार है। गीतिकाव्य में जीवन के किसी विशिष्ट क्षण की मार्मिक अनुभूति होती है। गीतिकाव्य स्वानुभूति परक और अपने आकार में संक्षिप्त होने के कारण कवि की विशेष चित्तवृत्ति (Mood) में उत्पन्न किसी प्राण सम्पन्न अनुभूति का ध्वन्यात्मक शब्दचित्र प्रस्तुत करता है।

गीत कवि के कतिपय क्षणों के भावोद्रेक का परिणाम है । गीत में भाव ही प्रधान होता है । यही कारण है कि भाव का दबाव इतना अधिक होता है कि विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता है । अत: भावावेग के कारण कवि उमड़ पड़ता है तथा उस समय उसके हृदय से जो काव्यधारा निकलती है, वही गीत है । गीतों में प्राय: वेदना, प्रेम और हर्ष के भाव ही होते हैं । गीति का दूसरा तत्व गेयता है । प्रबन्धकाव्यों का एक विशेष गुण यह है कि गीतों से काव्य में गेयता तो आई लेकिन घटना प्रवाह कुछ मंद पड़ गया, इस प्रकार गीत मनोवेगों की अभिव्यक्ति करता है तथा इसलिये आवेग के अल्पकालिक अस्तित्व के कारण गीत में संक्षिप्तता अवश्यंभावी हो जाती है ।

गीतिकाव्य अनुभूति प्रधान काव्य है, इसमें सामान्य वर्णन, किसी घटना तथ्य या भाव का न होकर कवि की अनुभूति के माध्यम से प्रकट होता है । अत: स्वानुभूति गीतिकाव्य का प्रधान तथ्य है । इसके अन्तर्गत कवि की आत्मा और भावना का प्रतिबिम्ब झलकता है, यही कारण है कि अनुभूति की तीव्रता में कवि के उद्गार सहज प्रभावित हो उठते हैं तथा भाव का बार-बार अनुभव करना चाहते हैं । स्वर की संक्षिप्ति और विस्तृति अनुभूति को सजग करती है । अत: स्वानुभूति गीत के माध्यम से ही सर्वोत्तम अभिव्यक्ति पाती है । काव्य का सहज नैसर्गिक और मनोरम रूप होने के कारण इसे काव्य का प्रकृत रूप माना है । पद्य के लिये छन्द अनिवार्य है, परन्तु इसमें कुछ संगीत के आधार पर गाये जा सकते हैं, कुछ केवल पढ़े जा सकते हैं । इस प्रकार पद तथा लय से युक्त और वर्ण आदि से अलंकृत गान क्रिया को गीति कहते हैं ।

गीतकाव्य सम्बन्धी भावोद्रेक से आशय कवि के अन्तर्जगत से सम्बन्धित भावानुभूति से है । काव्य और संगीतकला के दो स्वतन्त्र रूप हैं एवं दोनों ही अपने में पूर्ण हैं, परन्तु काव्य के साथ जब संगीत ने अभिन्नता स्थापित की तो वह गीतकाव्य बन गया । काव्य या गीत का प्राण भाव है, संगीत का प्राण राग ताल का ज्ञान और विधान है । यह दोनों लय की एक रेशमी डोर से बंधे हैं । रसबोध दोनों ही से होता है । संस्कृत के रागकाव्यों के

गीतों में काव्य और संगीत का अपूर्व समन्वय होता है, यही कारण है कि दोनों एक दूसरे से मिलकर इतने अभिन्न हो जाते हैं कि उनके तत्वों को पृथक् करना प्राय: कठिन हो जाता है। शास्त्रीय संगीत के अनुसार रागबद्ध होने के कारण गीत के लिये आकार की लघुता भी एक अनिवार्य प्रतिबन्ध है। राग-काव्यों में जो भी गीत होते हैं, उन गीतों में ध्रुवक या टेक का होना अनिवार्य है। स्वर, ताल, राग और लयबद्ध गीतात्मक सरस कृतियों को रागकाव्य के अन्तर्गत माना है। जैसे गीतगोविन्द रागकाव्य। पीयूषवर्षी जयदेव के गीत-गोविन्द रागकाव्य में जो गीत है, उसमें निश्चय ही काव्य और संगीत, भाव और राग, विषय और वर्णन शैली की दृष्टि से रागकाव्य के सृजन का आदर्श उपस्थित करते हैं। उत्कृष्ट शिल्प एवं शृङ्गारिक भाव प्रसार की दृष्टि से यह कृति अनूठी है। रागकाव्यों में विषय शृङ्गारादि से परिपूर्ण तो होता है किन्तु इसके साथ-साथ उसका उद्देश्य शृङ्गार के माध्यम से भक्ति भी होता है।

संस्कृत के रागकाव्य में गीत के 'स्थाई' अथवा 'ध्रुव' से तात्पर्य है कि गीत का वह अंश जो बार-बार गाया एवं दुहराया जाता है। 'स्थायी' गीत के मूलभाव को केवल स्थिर ही किये नहीं रहता, अपितु अन्य संचारी भावों से पुष्ट बनाने में पूर्ण सहायक भी होता है, इसका कारण है मूल भाव के साथ संचारियों की अन्विति। गीत में संगीतात्मकता के लिये उसके अनुकूल सरस, आनन्दमयी, कोमलकान्तपदावली, निजी रागात्मकता, संक्षिप्तता और भाव की एकता का विधान है। इस प्रकार काव्य और संगीत दोनों ही भाव का प्रकाशन करते हैं। यही कारण है कि गीत का प्रभाव अधिक व्यापक और गहरा होता है तथा उसमें काव्य और संगीत की मिली हुई शक्ति होने के कारण संवेदन की अपूर्व क्षमता है। संस्कृत के रागकाव्यों में जो पद्य तथा गीत है, उनमें भारतीय शास्त्रीय संगीत के अनुसार रागों के संकलन का ध्यान रखा गया है, यही कारण है कि कुछ विशिष्ट भावों को व्यक्त करने के लिये विशिष्ट रागों का प्रयोग आवश्यक समझा गया है। क्योंकि संगीत में रागों का घनिष्ठ सम्बन्ध भावों एवं रस से है तथा यही कारण है कि संगीत में नाद से ही सुख-दु:ख,हर्ष-

विषाद, आशा-निराशा आदि की प्रतीति होती है । नादात्मक अभिव्यंजना अपनी प्रकृति में इतनी सूक्ष्म और तरल होती है कि उसका निकट सम्बन्ध हृदय के हर्ष और विषाद के तारलीकृत रूप गान और रुदन से होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न रागों से श्रोता के हृदय में भिन्न-भिन्न रसों का अनुभव होता है । इसी कारण राग और रस का सम्बन्ध भी माना गया है ।

रागकाव्य और गीतिकाव्य में एक अन्तर यह भी है कि गीतिकाव्य में गीति की गेयता को शास्त्रीय संगीत में बांधा नहीं जाता है और न ही इनके गीतों में शास्त्रीय संगीत का आवश्यक तत्त्व ध्रुवक "टेक" का ही प्रयोग होता है, क्योंकि इसके बिना (टेक के बिना) कोई भी पद गेयपद की कोटि में नहीं आ सकता है । इसके विपरीत रागकाव्य के गीत शास्त्रीय संगीत के अनुसार राग, ताल, लय आदि में निबद्ध होते हैं । इनके गीतों में ध्रुवक का प्रयोग होने से उनके गीत गेयपद की कोटि के अन्तर्गत आते हैं ।

इस प्रकार इन समस्त भेदों के आधार पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत के रागकाव्य गीतिकाव्य की कोटि में आ सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानना अनुचित है, क्योंकि रागकाव्य और गीतिकाव्य का पृथक् अस्तित्व है । इस प्रकार यह कहना कि रागकाव्य गीतिकाव्य ही है निरर्थक है ।

इस प्रकार रागकाव्य एवं गीतिकाव्य का मौलिक अन्तर स्पष्ट हो गया ।

-)-

तृतीय अध्याय

संस्कृत साहित्य में उपलब्ध रागकाव्यों का विवेचन

(क) गीतगोविन्द और उसकी अनुकृतियां

(ख) जयदेव का गीतगोविन्द-संस्कृत साहित्य के रागकाव्यों का प्रेरक

(अ) गीतगोविन्द की शास्त्रीय समालोचना

(ब) रूपक एवं उपरूपक - गीतगोविन्द का स्थान

(ग) गीतगोविन्द की परम्परा में उल्लिखित कतिपय रागकाव्यों का संक्षिप्त परिचय ।

(१) गीतगिरीश रागकाव्य

(२) रामगीतगोविन्द रागकाव्य

(३) गीतगौरीपति रागकाव्य

(४) संगीतरघुनन्दन रागकाव्य

(५) गीतपीतवसन रागकाव्य

(६) कृष्णगीत रागकाव्य

संस्कृत साहित्य में उपलब्ध रागकाव्यों का विवेचन

संस्कृत साहित्य में रागकाव्यों के सन्दर्भ में सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने मारीचवध और राघवविजय नामक रागकाव्य का उल्लेख किया है । ये ढक्क और ककुभ राग में गाये जाने वाले रागकाव्य हैं, किन्तु यह उपलब्ध नहीं है । ये रागकाव्य नृत्य-प्रधान और अभिनयात्मक थे, इनका अभिनय गाकर किया जाता था इसी से इन्हें रागकाव्य कहा है । अभिनवगुप्त ने गीतविधा में लिखित काव्यों की संज्ञा रागकाव्य दी है।[1] इस प्रकार रागकाव्यों के इस अस्तित्व को अङ्गीकार कर लेने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि जयदेव के पहले भी इस प्रकार के रागकाव्यों के लिखने की अपनी परम्परा थी, जयदेव का गीतगोविन्द काव्य उसी परम्परा का प्रतीक है । संस्कृत साहित्य के कतिपय इतिहास लेखकों के अनुसार 'भारतीय साहित्य में इस अनुपम रचना शैली का सूत्रपात सर्वप्रथम जयदेव के 'गीतगोविन्द' से हुआ है ।[2] उनका यह कथन भ्रान्ति-मूलक प्रतीत होता है, परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि गीतगोविन्द के पूर्व का कोई रागकाव्य उपलब्ध नहीं होता है, केवल रागकाव्यों की रचना का उल्लेखमात्र प्राप्त होता है । इस प्रकार जयदेव के गीतगोविन्द की ऐसी प्रेरणा

१- अथोच्यते राघवविजयादि रागकाव्यादिप्रयोगो नाट्यमेव अभिनययोगात् ।
राघवविजयमारीचवधादिकं रागकाव्यं ।

तथाहि राघवविजयस्य हि ढक्करागेणैव विचित्रवर्णनीयत्वेऽपि निर्वाहः।

मारीचवधस्य ककुभग्रामरागेणैव । अतएव रागकाव्यानीत्युच्यन्ते एतानि ।
-नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती), अध्याय ४,पृ०सं०१७२,१८१,१८२

२- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : (पाण्डेय तथा व्यास),पृ० सं० ३३५

रही है, कि व्यतीत हुई कई शताब्दियों में उसके शब्द-लालित्य और भाव-व्यञ्जना की कलात्मक अभिव्यक्ति की अनेक अनुकृतियां हुई है। लगभग १३० गीतगोविन्द अनुकृतियां मूलकृति के साथ पायी जाती है। इनमें से कुछ मुद्रित रूप में प्राप्य है तथा कई अनुकृतियां हस्तलिखित रूप में हैं। इस प्रकार कविवरों ने गीतगोविन्द के अनुकरण पर नवीन काव्य-कृति बनाने की चेष्टा की है। जगन्नाथ जी द्वारा प्रथम अनुकृति (अभिनव गीतगोविन्द) के अस्वीकृत कर दिये जाने पर भी कविगण हतोत्साहित नहीं हुए। इन कवियों ने गोविन्द के स्थान पर अपने-अपने इष्टदेव को समाविष्ट किया और कृष्ण की भांति राम, शिव तथा दुर्गा आदि परक गीतों की रचना करके रागकाव्यों की रचना की। इस प्रकार सभी रागकाव्य जयदेव की परम्परा में ही लिखे गये हैं। अत: जयदेव का `गीतगोविन्द` एक साहित्यिक विधा ही बन गया। अतएव इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि महाकवि कालिदास के मेघदूत (खण्डकाव्य) के भी उतने अनुकरण नहीं हुए जितने गीतगोविन्द के हुए हैं।

`न्यू केटलागस केटलागारम्` में गीतगोविन्द की कुछ अनुकृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[१] परन्तु डा० बनमाली रथ ने प्रमाण के रूप में गीतगोविन्द की परम्परा में उल्लिखित अनुकृतियों का विस्तार से उल्लेख किया है। उनकी अनुकृतियों का उल्लेख अत्यधिक प्रामाणिक एवं सर्वमान्य है। यह सभी अनुकृतियां जयदेव के गीतगोविन्द पर आधारित है। यही कारण है कि इन समस्त रागकाव्यों को जयदेव की परम्परा में उल्लिखित माना जाता है।

---

1. New catalogous catalogorum, Vol. Six, University of Madras, Year 1971.

डा० बनमाली रथ के अनुसार गीतगोविन्द की लगभग १३० अनुकृतियों की सूची इस प्रकार है[१] -

(क) गीतगोविन्द और उसकी अनुकृतियां

१- अभिनव गीतगोविन्द - पुरुषोत्तमदेव (१४८० ई०)

२- अनन्दलतिका -नाटिका - रामकृष्ण

३- उषाविलास - नारायण मिश्र

४- काशीगीत - चन्द्रदत्त

५- कृष्णगीति - सोमनाथ (१६वीं शताब्दी)

६- कृष्णविजय -

७- कृष्णगीति - मानदेव (१६५२ ई०)

८- कृष्णविलास - कविरत्ननारायण मिश्र (१६४४ ई०)

९- कृष्णलीलातरङ्गिणी - बालमुकुन्द रामायण शास्त्री (१८७५ ई०) ।

१०- कृष्णलीलातरङ्गिणी - रामसंयक कवि

११- गंगाराम संकीर्त चम्पू - वासुदेव रथ

---

1. Vishveshvaranand Indological Journal (Prof. K. V. Sarma")
(Edited by "S. Bhaskaran Nair ")
Punjab University Hoshiarpur, Year 1980.

१२- गीतगौरीश (गीतगौरीपति) - भानुदत्त (१३२० ई०)

१३- गीतमुकुन्द - कमललोचन सहगराय १७६० ई०

१४- गीतगिरीश - रामभट्ट (१५ १३ ई०)

१५- गीतसामकरन्द - भीष्म मिश्र

१६- गीतसामकर - हीरा

१७- गीतगोपीपति - कृष्णदत्त (१६४६ ई०)

१८- गीतराघव - हरिशंकर

१९- गीतपीतवसन - श्यामराम कवि

२०- गीतसीता वल्लभम् - शितिकण्ठ

२१- गीतावली - रूपगोस्वामी (१४७०-१५५४)

२२- गीतदिगम्बर - हेमस्वामी (१६५५)

२३- गीतगोपाल - चतुर्भुज

२४- गीतशंकर - जयनारायण घोषाल

२५- गीतगंगाधर - कल्याण

२६- गीतराघव - प्रभाकर (१६७४)

२७- गीतगौरीवर (गीतगौरी) - त्रिमुला

२८- गीतभागवतम् - रामदुर्गा नृपति

२९- गीतवीतराग - अभिनवचारुकीर्ति

३०- गीतगंगाधर	-	राजशेखर
३१- गीतगंगाधर	-	चन्द्रशेखर
३२- गीतप्रदीप	-	जयकृष्ण
३३- गीतावली भागवतगीतावली	-	
३४- गीतसीतापति	-	अच्युतराय मोदक
३५- गीतवीतराग	-	बहुबलिस्वामि अष्टपदी
३६- गीतगंगाधर	-	गंगाधर
३७- गीतगिरीश	-	श्रीहर्ष
३८- गीतगिरीश (शिवशताब्दी)	-	महाकवि रामभट्ट
३९- गीतराघव काव्य	-	राम कवि
४०- गीतशंकर	-	अनन्तनारायन
४१- गीतसुन्दर (संगीत सुन्दर)	-	सदाशिव
४२- गीतगोपाल	-	चतुर्भुज
४३- गीत दामोदर	-	शम्भूराम
४४- गीतमाधव	-	रेवाराम
४५- गीतरस	-	लक्ष्मणसोमपति
४६- गीतमहेश्वर	-	लक्ष्मणसोमपति
४७- गीतशतक	-	सुन्दराचार्य

४८- गीतगौरीपति - शंकरमिश्र

४९- गीतमकरन्द -

५०- गीतगौरीश - रामभद्र

५१- गीतमहंता - वंशमणि

५२- (अ) गीतगोविन्दशतक -

(ब) गीतशंकर अष्टपदी
स्टाइल सारस्वती
महल तंजौर)

५३- गोपगोविन्द - (१६२५ ई०)

५४- गोपालकेलिचंद्रिका - रामकृष्ण

५५- गोपाल-चम्पू - जीवगोस्वामी

५६- चंदिका चरित्र चंद्रिका - कृष्णदत्त (१६४६ ई०)

५७- बालगीतकाव्य - चंबराज

५८- चित्राजन नाटिका - रामकृष्ण

५९- चन्दी मकन्ता (चन्दी मकरन्द) - पुरुषोत्तम भट्ट (१५५० ई०)

६०- जगन्नाथ वल्लभ नाटक - रामानन्द

६१- जानकीगीत - हरि आचार्य

६२- त्रिपुरसुन्दरी स्तुति काव्य - कालिदास (१७५१ ई०)

६३- धुवकाव्य विलास - रत्नराधि (१७ वीं शताब्दी)

६४- नंबराजदासमल्लास-चम्पू - नीलकण्ठ

६५- नन्दीघोष विजय-नाटिका - रामकृष्ण

६६- नंबराज-चम्पू - श्रीनिवास आचार्य

६७- फाविलास (शाहजीविलास) - धुन्धी व्यास

६८- बलभद्र विजय - नारायण मिश्र

६९- मुरलिस्वामि अष्टपदी (गीतवीतराग) -

७०- बाल रामायण - पुरुषोत्तम मिश्र

७१- व्रजयुवाविलास - कमललोचनखड्गराय (१९० ई०)

७२- भागवतगीतावली -

७३- भोसले वंशावली चम्पू - नैध्रुव कश्यप

७४- माधवगीतसुधा - राघव अपकन्दकरा

७५- मुदित माधव - सनातन बोध मिश्र (१६५० ई०)

७६- मुकुन्द विलास महाकाव्य - यतीन्द्र रघुपम तीर्थ (१६६७)

७७- मुकुन्द आनन्द - काशीपति

७८- रागगीतगोविन्द - जयदेव

७९- रामोद हरन गीतकाव्य - वेंकटप नायक

८०- रागगीतकाव्य - वीतमनि श्रीनिवासाचार्य

८१- रामगीत - कृष्णभट्ट

८२- रामोद हरन (गीतिकाव्य) - नारायन स्वामि

८३- रसविहार - माधव

८४- राघव प्रबन्ध -

८५- रामचन्द्रोदय - पुरूषोत्तम मिश्र

८६- रामाभ्युदय - पुरूषोत्तम मिश्र

८७- रामकृष्ण शुद्धोदय - शिव श्रीनिवास सूरि

८८- राघव अष्टपदी -

८९- रुक्मिणी परिणय - नारायण भंव

९०- रुक्मिणी अष्टपदी -

९१- विष्णु पदावली -

९२- वीरविरुद्ध - चन्द्रदत्त

९३- वैराग्य-चिन्तामणि - मानविक्रम कविराज

९४- शर्मोर्बि-राजचरित - अनन्तनारायण

९५- शंकर विहार - नारायण मिश्र

९६- शंकरी संगीत (गीत सामकार्यम्) - जयनारायण घोषाल

९७- शंकरी गीति	-	
९८- सन्तसुधारस	-	मुनिविनयविजय
९९- शिवलीलामृत महाकाव्य	-	नित्यानन्द (१७०० शताब्दी)
१००- शिवमोहिनी विलास	-	भास्कर
१०१- शिवाष्टपदी	-	वेंकटप नायक
१०२- शिवगीतिमलिका	-	चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती
१०३- शिवगीतिमलिका	-	चन्द्रशिखामणि
१०४- शिवगीत	-	राम
१०५- शिवसप्रसदी	-	
१०६- शिवाष्टपदी	-	रत्नगुरु
१०७- श्रीकृष्णलीलार्थ	-	नित्यानन्द (१७०० शताब्दी)
१०८- श्रीकृष्णलीलातरङ्गिणी	-	नारायण मिश्र (१६७५)
१०९- श्रीकृष्णलीलामृतम	-	ईश्वरपुरी
११०- श्रीकृष्णतत्त्व	-	दीनबन्धु मिश्र
१११- श्रीराम अष्टपदी विवरण	-	उपनिषद ब्रह्मेन्द्र
११२- शृंगाररस मंडन	-	विट्ठलेश्वर (१५३० ई०)
११३- समर्थ माधव नाटिका	-	गोविन्द सामन्त राय (१५६४ ई०)
११४- संगीतचिन्तामणि	-	कमललोचन खड्गराय (१७९० ई०)

११५- संगीत राघव - गंगाधर (१८६४ ई०)

११६- संगीत रघुनन्दन - प्रियादास (१८३२ ई०)

११७- संगीत गंगाधर - नंबराव (१७५० ई०)

११८- संगीत माधव - प्रबोधानन्द सरस्वती

११९- संगीत माधव - गोविन्ददास (१५३७ ई०)

१२०- संगीत राघव - चिन्नबूमा भूपाल

१२१- संगीत सुन्दर - सदाशिव

१२२- शाश्वी विलास(फल विलास) - धुन्धी व्यास

१२३- शाश्वी-राम अष्टपदी - श्री श्रीनिवास

१२४- संगीत गोविन्द - मधुसूदन

१२५- हरिस्मृति सुधांकुर - रघुनन्दन

१२६- आनन्दगीत चिन्तामणि - विश्वनाथ चक्रवर्ती (१६६४ ई०)

१२७- राजा पुरूषोत्तम की अज्ञात कृति `मानुदेव` -II = १३२८

१२८- कृष्णदास की अज्ञात कृति = १५७०

१२९- राजा रघुनाथ हरिचन्द की अज्ञात कृति = १६२०

१३०- गोविन्ददास की अज्ञातकृति = १५७७

१३१- राधामोहन ठाकुर की अज्ञात कृति = १६१८

१३२- हरिहर मिश्र की अज्ञात कृति = (१८ वीं शताब्दी)

(ख) जयदेव का गीतगोविन्द- संस्कृत साहित्य के रागकाव्यों का प्रेरक ग्रन्थ

महाकवि जयदेव संस्कृत रागकाव्य के रसविलास हैं। इनका जन्म बंगाल के केन्दुविल्व नामक ग्राम में हुआ था, इनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम रामादेवी या राधादेवी था। सुरभारती के अमरगायक जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की सभा के प्रमुख कवि रत्न थे। इनका स्थितिकाल ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना चाहिये। आचार्य गोवर्धन, धोयी, शरण तथा उमापति धर इनके प्रिय मित्रों में से थे इन्होंने अपने अद्वितीय ग्रन्थ गीतगोविन्द के चतुर्थ पद्य में स्वयं अपना तथा अपने मित्रों का उल्लेख इस प्रकार किया है।

वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्द्धन -
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः॥

गीतगोविन्द संस्कृत वाङ्मय की विलक्षण रचना है, इस विलक्षण रचना का सर्गों एवं प्रबन्धों में विभाजन हुआ है। इस रागकाव्य में प्रत्येक प्रबन्ध एक गीत है। इसमें कुल २४ गीत या प्रबन्ध है। यह रागकाव्य १२ सर्गों में विभक्त है। जयदेव ने अपने इस रागकाव्य में श्लोक, गद्य तथा गीत इन तीनों का मिला जुला प्रयोग किया है। गद्य का प्रयोग उन्होंने संवादात्मक प्रसंगों में किया है जहां पात्रों की मनोदशा की सूचना दी जाती है। भावों की मार्मिक अभिव्यञ्जना गीतों द्वारा की गयी है।

१- गीतगोविन्द - १।४

जयदेव के गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण की प्रणयलीला ही गीतगोविन्द का प्रधान विषय है । जयदेव मूलत: शृङ्गार के कवि हैं, शृङ्गार में भी संयोग-शृङ्गार के विशेष कुशल चित्रकार हैं । इसी संयोग शृङ्गार के अंग रूप में विप्रलम्भ आता है जिसे शुद्ध विप्रलम्भ नहीं कहा जा सकता है । यही कारण है कि जयदेव की विशलता इसी में निहित है कि उन्होंने गीतगोविन्द में संयोग और वियोग दोनों का चित्रण किया है ।

महाकवि जयदेव की भाषा ललित, मधुर, सरस, कोमल प्राञ्जल एवं परिष्कृत है । पदशय्या इतनी कोमल है कि भावुक पाठक उसमें लोट-पोट कर परम विश्रान्ति लाभ प्राप्त कर सकता है । जयदेव के गीतगोविन्द में एक ओर संस्कृत के वर्णिक वृत्त तथा दूसरी ओर संगीत के मात्रिक पदों का विचित्र समन्वय परिलक्षित होता है । जयदेव ने संगीत की तान में काव्य को प्रतिष्ठित कर साहित्य और संगीत का अपूर्व समन्वय उपस्थित किया है ।

(ब) गीतगोविन्द की शास्त्रीय समालोचना -

जयदेव के गीतों के गायन की परम्परा अति प्राचीन है । उदाहरणस्वरूप दक्षिण में गीतगोविन्द नियमित रूप से भजन-सम्प्रदाय में गाया जाता है । यही नहीं गीतगोविन्द के पद गाने की परम्परा आज मन्दिर के परिसर से निकल कर जनसमाज में प्रसार पा चुकी है । इस प्रकार तामिलनाडु, केरल, आन्ध्र, कर्नाटक, बंगाल, मणिपुर तथा उत्तर-प्रदेश के हिन्दुस्तानी संगीत में भी इसके गायन की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है । गीतगोविन्द के गीतों को नृत्य-नाटिकाओं की रचना के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है । उदाहरणस्वरूप ओडिसी और मणिपुरी नृत्यशैलियों में गीतगोविन्द पर आधारित नृत्य-परम्परा सदियों से सुरक्षित है । परन्तु

विशेष रूप से मणिपुरी नृत्यशैली में इसका प्रचलन है ।

इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में गीतगोविन्द की नृत्यात्मकता का निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में वर्णित पारम्परिक काव्य-विधाओं से गीतगोविन्द का कितना सम्बन्ध है, जैसा कि पूर्वविवेचित है कि रागकाव्य कोई नवीन शैली नहीं है, यह गीतकाव्य का एक विकसित रूप है परन्तु गीतगोविन्द की सम्वादात्मकता तथा अपूर्व काव्यात्मकता इसे अन्य काव्य-शैलियों के भी निकट ला देती है ।

(ब) रूपक एवं उपरूपक - गीतगोविन्द का स्थान-

गीतगोविन्द के नृत्य के सन्दर्भ में रूपक और उपरूपक का अनुशीलन अपेक्षित है । अधुना रूपक और उपरूपक का विवेचन क्रमशः इस प्रकार है । यद्यपि आचार्य भरत द्वारा निरूपित भारतीय नाट्य नृत्य-नाटक की प्रकृति का है, किन्तु फिर भी उपरूपक वर्ग के नाटक उत्कृष्ट कोटि के हैं । इस प्रकार इस सन्दर्भ में रूपक (नाट्य) और उपरूपक (नृत्य) का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है । यद्यपि यह तो पूर्व ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि भारतीय वाङ्गमय में काव्य की प्रधान धाराएं 'दृश्य' और 'श्रव्य' इन दो भिन्न शास्त्रीय नामों से प्रसिद्ध है । यह नाट्य श्रव्य एवं दृश्य होता है, इसीलिये रूप या रूपक के नाम से परम्परा से प्रसिद्ध रहा है । अभिनवगुप्त के मतानुसार नाट्य शब्द नमनार्थक 'नट' शब्द से व्युत्पन्न होता है।[१] इसमें पात्र स्व (अपना) भाव को त्यागकर पर-

---

१- नट नताविति नमनं स्वभावत्यागेन प्रह्वीभावलक्षणम् ।

- नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती टीका, पृ० सं० ८०, एकोनविंशोऽध्याय

प्रभाव को ग्रहण करता है, रूप धारण करता है ; अतएव वह नाट्य या रूपक होता है । दशरूपककार धनञ्जय ने तो इसको दृश्यता के कारण ही इसका रूपक होना सिद्ध किया है ।[१] जिस प्रकार चक्षु ग्राह्य लौकिक वस्तुओं को रूप की संज्ञा देते हैं उसी प्रकार नाट्य या अभिनय का काव्य-रूप तो श्रव्य तथा चक्षु-ग्राह्य भी है । अतएव इस दृश्यता की विशेषता के कारण ही वह रूपक होता है । जिस प्रकार मुख में चन्द्र के आरोप द्वारा एक सौन्दर्य-विशेष का अनुभव होता है, उसी प्रकार नट में राम आदि की अवस्था का आरोप होता है, इसलिये भी इसे रूपक शब्द से अभिहित किया जाता है । अत: यह कहा जा सकता है कि रूपक, नाट्य, अभिनय और नाटक भी दृश्य-काव्यों के लिये प्रचलित रहे हैं । नाट्य में मानवीय सुखदु:खात्मक संवेदनाओं का पुनरुद्भावन होता है और रूपक के द्वारा ही 'नट' राम की सुख - दु:खात्मक संवेदनाओं का अनुभावन करते हैं । इस प्रकार ये दोनों ही शब्द एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं । दशरूपककार के अनुसार इनका प्रयोग शक्र, इन्द्र और पुरन्दर की तरह पर्यायवाची शब्द के रूप में होता है । वस्तुत: रूप, रूपक, नाट्य और अभिनेय आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में दृश्य-काव्य के लिये होता है । भरतमुनि के अनुसार रूपक दस प्रकार का होता है ।[२]

१- रूपं दृश्यतयोच्यते, रूपकं तत्समारोपात् ।

- दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ८,६, पृ० सं० ७

२- नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ।
भाण: समवकारश्च वीथीप्रहसनं डिम: ।।
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्य लक्षणे ।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वश: ।।

- नाट्यशास्त्र, १८ वां अध्याय, कारिका, २, ३, पृ० सं० ४०७

इसी को आधार मानकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ,[1] तथा दशरूपककार धनञ्जय[2] ने भी १० प्रकार के रूपक माने हैं । इस प्रकार यह तो सर्वविदित है कि अभिनय प्रयोग की स्थिति में नाट्य के पश्चात नृत्य का दूसरा स्थान है । इस शब्द की निष्पत्ति 'नृत' धातु से मानी जाती है । आचार्य धनञ्जय के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है ।

'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं'[3]

अर्थात जो भावाश्रित होता है, वह नृत्य कहलाता है । इस प्रकार भावाश्रित नृत्य भी जिसमें अभिनय के द्वारा किसी पदार्थ की अभिव्यक्ति का आन्तर भावों को अभिव्यक्त किया जाता है वह नृत्य है । इसके विपरीत नाट्य में रसों तथा वाक्यार्थ के अभिनय पर बल दिया जाता है वही नृत्य में रस, भाव तथा पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत होता है । इसी प्रकार अभिनय प्रदर्शन में नृत्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है । इस नृत्त शब्द की निष्पत्ति भी 'नृत' धातु से हुयी है । जिस प्रदर्शन में भाव या पदार्थ का प्रदर्शन नहीं होता उसे आचार्य नन्दिकेश्वर ने नृत्त कहा है । उल्लेख इस प्रकार है --

भावाभिनयहीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते ।[4]

१- नाटकमथ प्रकरणं भाण व्यायोगसमवकार डिमा: ।
ईहामृगाङ्कवीथ्य: प्रहसनमिति रूपकाणि ।।
- साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद,कारिका ३, पृ० सं० ३६१

२- नाटकं सप्रकरणं भाव: प्रहसनं डिम: ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।।
- दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका, ११, पृ० सं० ८

३- दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका, १२, पृ० सं० ६

४- अभिनयदर्पण - कारिका संख्या १५ ।

आचार्य धनञ्जय ने नृत्त का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है —

'नृत्तं ताललयाश्रयम् ।'[1]

तात्पर्य यह है कि नृत्त में ताल और लय के अनुरूप ही हस्त, पाद आदि अंगों का संचालन होता है ।

इस प्रकार नृत्त और नृत्य के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नृत्य भावों पर आश्रित है तो नृत्त अंग विक्षेप युक्त तथा ताल और लय पर भी आश्रित होता है । नृत्य भावाभिनय में सहकारी बनता है तो नृत्त केवल सौन्दर्य विधायक होता है । यही कारण है कि 'नृत्य' का क्षेत्र व्यापक और नृत्त का स्थानीय होता है । इसी प्रकार यह नृत्य नाट्य का भी निकटवर्ती है, परन्तु नृत्य की अपेक्षा नाट्य में सर्वाङ्गपूर्णता रहती है । अभिनय के मूल में नानावस्थात्मक लोकचरित भावभूमि के रूप में वर्तमान रहता है । अतः नाट्य में नानाविध रसमयता भी रहती है । नाट्य सुख दुःखात्मक लोकचरित की बहुविधता का संवेदनात्मक प्रतिफलन होने के कारण ही मानव के जीवन-सागर में एक हिलोर, एक लहर उत्पन्न करता है । अतः (नृत्य) (नृत्त) उस नाट्य का उपकारक मात्र है । इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्य, नृत्य और नृत्त ये तीनों नाट्य-शास्त्र की विकास परम्परा के द्योतक हैं ।

इस प्रकार रूपक के विवेचन के पश्चात उपरूपक का निरूपण इस प्रकार है । नाट्याचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में १० रूपकों का तो निरूपण प्राप्त होता है, किन्तु उपरूपकों का कोई निर्देश नहीं है । नाट्यवेद में उपरूपक विमर्श की परम्परा सर्वप्रथम नाट्याचार्य कोहल से प्रारम्भ हुयी है ।

१- दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका - १३, पृ० सं० १०

अभिनवभारतीकार की यह उक्ति है —

> 'प्रयोगाय प्रयोगत इति व्याख्याने प्रयोगत इति विफलमेव ।
> उक्तव्याख्याने तु डोम्बिकादिलक्षिततोटकसट्टकरासकादिसंग्रह: फलम् ।[१]

तात्पर्य यह है कि उपरूपक-विकल्प कोहल और उनके अनुयायी नाट्याचार्यों का काम है ।

आचार्य धनिक ने उपरूपकों को नृत्य-भेद माना है—

> डोम्बी श्रीगदित भाणो भाणीप्रस्थानरासक: ।
> काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदा: स्युस्तेऽपि भाणवत् ।।[२]

अर्थात् रूपक तो रसाश्रय काव्य-प्रबन्ध होने के कारण नाट्यभेद है और उपरूपक भावाश्रय होने के कारण नृत्यभेद है । रूपक के अभिनय में चतुर्विध अभिनय की अपेक्षा है और उपरूपक के अभिनय में आङ्गिक अभिनय का बाहुल्य रहता है। तात्पर्य यह है कि रूपक और उपरूपक का भेद काल्पनिक नहीं अपितु वास्तविक है । यही नहीं भारतीय नाट्य तथा नृत्यगीतमिश्रित रागकाव्यों (दृश्य) के प्रयोगात्मक रूपों के विकास एवं इतिहास की दृष्टि से इन रूपकों का अत्यन्त महत्व है । रूपकों के द्वारा प्रेक्षकों के अन्त:करण में स्थित स्थायी भाव को रस स्थिति में पहुंचा दिया जाता है उनमें कोई एक रस प्रधान होता है तथा शेष गौण ; तथा प्रधान का सहायक मात्र होता है । रूपक के द्वारा रस का सम्पूर्णतया आभोग होता है, जबकि इन नृत्यगीतात्मक नाट्य रूप वाले उपरूपकों में भावावेश तथा गीत नृत्य की प्रमुखता के साथ भावों का विशेष प्रदर्शन रखा जाता है । इसमें किसी एक दृश्यभाग को गीत नृत्य की

१- नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती टीका, पृ० सं० ४०७, अष्टादशोऽध्याय ।

२- दशरूपक - प्रथम प्रकाश, पृ० सं० ६

पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया जाता है । रूपक में कथावस्तु को उसके अंगों, कथोपकथन तथा आदर्शशील आदि से समृद्ध करते हुए मंच पर उपस्थित किया जाता है जबकि उपरूपकों में नाट्य के ये अंग कम क्षेत्र में तथा शिथिल स्थिति में रहते हैं । परन्तु हृदय के किसी एक भाव या कथा के एक दृश्य को मधुर गीत नृत्य आदि के आकर्षक एवं रंजक रूप में मुख्यतः प्रस्तुत किया जाता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उपरूपकों को रूपकों से अतिरिक्त शास्त्रीय प्रतिष्ठा एवं स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्यों में कोहल सर्वप्रथम हैं । उपरूपकों के प्रकार भी भिन्न-भिन्न नाट्याचार्यों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न हैं । दशरूपक की अवलोक में डोम्बी आदि सात नृत्य-भेदों की चर्चा है ।[१] महाराज भोज ने उपरूपकों के १२ भेद बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं— श्रीगदित, दुर्मिल्लक, प्रस्थान, काव्य (चित्र), भाण, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तनक, प्रेक्षणक, रासक तथा नाट्य रासक ।[२] भोजराज के पश्चात शारदातनय, सागरनन्दी, रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा आचार्य विश्वनाथ कविराज ने भी उपरूपकों का लक्षणादि के साथ विवरण दिया है । इस प्रकार उपरूपक के निरूपण से यह ज्ञात होता है कि उपरूपक वर्ग के नाटक उत्कृष्ट कोटि के होते हैं क्योंकि उसमें संगीत तथा नृत्य की प्रधानता होती है । इस प्रकार संगीत, नृत्य और अभिनय से युक्त उपरूपक ऐसी नाट्यकला थी जिसमें नाट्य-धर्मी के सहज और शुद्ध कलापूर्ण प्रतिभा का उपयोग किया जाता था । यही कारण है कि उपरूपक के विभिन्न भेदों

१- दशरूपक - धनिक अवलोक टीका, पृ० सं० ६, प्रथम प्रकाश ।

२- भोजकृत शृङ्गारप्रकाश, एकादशप्रकाश, पृ० सं० ४६१ ।

में उल्लिखित प्रस्तुत रागकाव्य गीतगोविन्द के सन्दर्भ में काव्य और चित्र-काव्य का उल्लेख संगत है । परन्तु प्रस्तुत स्थल पर काव्य और चित्रकाव्य से अलंकार-शास्त्र में प्रचलित काव्यरूपों का भ्रम नहीं होना चाहिये । क्योंकि प्रस्तुत स्थल पर काव्य से अभिप्रेत वह पूर्ण कथा है जिसकी रचना गीतों में हुई हो और जिसे नृत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ; यही कारण है कि इस सन्दर्भ में 'भोज के अनुसार आदि से अन्त तक काव्य केवल एक राग में होता है और इसीलिये इसे मात्र काव्य कहते हैं, तथा दूसरा रूप अर्थात चित्रकाव्य विभिन्न रागों में होता है, अर्थात यह विविध-राग है । इस प्रकार इस शैली का भोज ने जो विवरण दिया है उसमें संरचना, राग और ताल के बारे में संगीत-सम्बन्धी पूर्ण जानकारी है ।'[1] उदाहरण स्वरूप अभिनवगुप्त ने रामायण की कथावस्तु से सम्बन्धित 'राघवविजय' और 'मारीचवध' दो कृतियों का उल्लेख किया है । यह दोनों काव्य के उस रूप से सम्बन्धित है जो एक ही राग में गाया जाता है । इस प्रकार यह काव्य का वह रूप है, जिसका प्रथम भेद के रूप में भोज ने उल्लेख किया है । इसी सन्दर्भ में 'अभिनवगुप्त का कथन है[2] कि रस और सन्दर्भ बदल जाते हैं परन्तु वास्तविक नाटक की तरह रागकाव्य में सुर और ताल मात्रा नहीं बदलती, आदि से अन्त तक 'राघवविजय' रागकाव्य केवल ठक्क-राग में और 'मारीचवध' ग्राम राग अथवा ककुभ में गाया जाता है । जबकि प्रस्तुत प्रसिद्ध रागकाव्य गीतगोविन्द चित्रकाव्य शैली में होता है । इसका संगीत और नृत्य के इतिहास में प्रमुख स्थान है ।'

१- 'भोजकृत शृंगार प्रकाश' सम्पादक - डा० वी० राघवन्, 'भोज और नाट्यशास्त्र', बीसवां अध्याय, पृ० सं० ५४६,५५०,५५१ ।

२- 'अभिनवभारती इन नाट्यशास्त्र', गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, सम्पादक : कवि रामचन्द्र, दूसरा संस्करण १९५६, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, भाग १, अध्याय ६ ।

इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि डा० राघवन ने पार्लकीमिदी के प्रमुख राजा नारायण द्वारा लिखी हुई `संगीतनारायण` का भी उल्लेख किया है, परन्तु यह उसके गुरु तथा उसके राजकवि पुरुषोत्तम मिश्र द्वारा विरचित है । इन रचनाओं के उदाहरणों से पता चलता है कि वे काफी बाद में लिखी गयी ।[१] पुरुषोत्तम नाम के इसी व्यक्ति ने तथा इसी के नारायण नाम के पुत्र ने कुछ रागकाव्य लिखे । इसके अतिरिक्त नारायण ने `संगीतसारणी` नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा । नारायण के अनुसार उपर्युक्त काव्य की तरह गीत-प्रबन्धों में एक पूर्ण कथावस्तु होती है और उनके दो भेद होते हैं, शुद्ध प्रबन्ध और सूत्र-प्रबन्ध । पहले का रूप गीत-गोविन्द के सदृश होता है और उसके गीत विभिन्न रागों में होते हैं । दूसरे में केवल एक राग का ही प्रयोग होता है । नारायण के अनुसार उसके पिता की अधिकांश रचनाएं शुद्ध प्रबन्ध है और उसकी कुछ अपनी रचनाएं सूत्रप्रबन्ध है । नारायण ने सूत्रप्रबन्ध `रामाभ्युदय` की कथा स्थानीय मन्दिर के उत्सव से सम्बन्धित सूत्र-प्रबन्ध `गुडीचा-विजय` की रचना की । शुद्धप्रबन्ध के अन्तर्गत `बलभद्रविजय`, `शंकरविहार`, `कृष्णविलास`, और `ऊषाविलास` का प्रणयन किया । उसके पिता पुरुषोत्तम ने रामायण की कथावस्तु के आधार पर तीन शुद्ध प्रबन्धों की रचना की । उनके नाम `रामचन्द्रोदय`, `बालरामायण` और `रामाभ्युदय` है ।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि गीत-गोविन्द उपरूपक के भेद चित्रकाव्य की शैली के अन्तर्गत आता है और बाद में यही शैली आधुनिक काल के नृत्य-नाटकों के मूल स्रोत के रूप में विकसित हुई है । इस प्रकार गीतगोविन्द की इन समस्त विशेषताओं के कारण

१- राघवन, वी : भोज कृत शृङ्गारप्रकाश पुनर्मुद्र, मद्रास, १९६३ का `भोज और नाट्यशास्त्र` बीसवां अध्याय, पृ० सं० ५५१ ।

उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ती गयी कि परवर्ती साहित्यकारों ने उसके अनुकरण पर रचनाएं करना प्रारम्भ कर दिया । इनमें रामगीतगोविन्द, गीतगिरीश, संगीतरघुनन्दन आदि प्रमुख रचनाएं हैं । राधा-कृष्ण के भक्तों ने ही नहीं, सीताराम तथा शिव-पार्वती के उपासकों ने भी जयदेव के अनुकरण पर अपने-अपने उपास्य युगल की लीलाओं का शृङ्गारिक वर्णन किया है । इन रचनाओं पर जयदेव की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है । अधुना जयदेव की परम्परा में लिखे गये रागकाव्य और उनका संक्षिप्त परिचय विवेचनीय है ।

(ग) गीतगोविन्द की परम्परा में उल्लिखित कतिपय रागकाव्यों का संक्षिप्त परिचय

(१) गीतगिरीश रागकाव्य :

रामभट्ट द्वारा विरचित गीतगिरीश यह रागकाव्य गीतगोविन्द की परम्परा में लिखा गया है । कवि नृपति रामभट्ट ने पुस्तक के अन्त में अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए पिता का नाम श्रीनाथ भट्ट और अपना नाम रामभट्ट उद्घोषित किया है । रामभट्ट का जन्मकाल अनुमान के आधार पर १६वीं शताब्दी का पूर्वभाग माना जा सकता है ।

गीतगिरीश इस रागकाव्य में १२ सर्ग हैं । इस रागकाव्य में प्रणयबद्ध शिव-पार्वती के वियोग एवं संयोग की घटनाओं का वर्णन है । प्रस्तुत काव्य अनुकरणात्मक होने के कारण सर्वथा मौलिकता से रहित है । ऐसा कदापि नहीं, क्योंकि यह काव्य अनुकरणात्मक होने पर भी मौलिक भावनाओं तथा कोमलकान्तपदावली से ओत-प्रोत है । काव्य को पढ़ने से

प्रतीत होता है कि कवि का भाषा पर असीम अधिकार है । इस रागकाव्य के प्रत्येक सर्ग का वर्णन पाठक के मन को रससिक्त कर देता है । इस राग-काव्य के समस्त गीत तथा कथायोजक समस्त छन्द समासयुक्त तथा असमस्त अलंकृत शैली में लिखे गये हैं । गीतों की तुलना में कवि ने समासयुक्त पदावली का प्रयोग कम किया है, अलंकृत शैली में लिखी होने पर इसकी भाषा प्रवाह-पूर्ण, प्राञ्जल तथा प्रसादगुणमण्डित है । प्रस्तुत कृति रागकाव्य होने पर भी प्रबन्धकाव्य के सदृश इस काव्य का सम्पूर्ण कथानक एक सूत्रता से आबद्ध है, पाठक को पढ़ते समय कथाभंग का आभास नहीं होता है । इसे कवि कर्म की कुशलता और उसकी प्रतिभा ही समझना चाहिये ।

कवि नृपति रामभट्ट शृङ्गाररस के कवि हैं । शृङ्गाररस में विप्रलम्भ तथा उसके भेद-उपभेद का कुशल प्रयोग किया है । यही कारण है कि रामभट्ट की अपनी इस कृति में विप्रलम्भ के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है । जयदेव के गीतगोविन्द के सदृश इस काव्य में भी उत्कण्ठिता, वासक -सज्जा, विप्रलब्धा खण्डिता आदि नायिकाओं के तथा चिन्ता, मरण, व्याधि आदि अनेक संचारी भावों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं ।

जिस प्रकार जयदेव ने काव्य को संगीत के तान में प्रतिष्ठित कर साहित्य और संगीत का अपूर्व समन्वय किया है, उसी प्रकार अन्य कवियों ने भी इसी रीति को अपनाकर अपनी काव्यकृति की रचना की है । प्रस्तुत काव्य में कवि ने प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी अलंकार तथा शब्दालंकारों का प्रयोग स्थल-स्थल पर किया है । अलंकारों में कवि की अर्थालंकार के सांगरूपक अलंकार के प्रति अत्यधिक मोह और आकर्षण है । छन्दों में शार्दूलविक्रीडित छन्द का अत्यधिक प्रयोग किया है । कहीं-कहीं शिखरिणी छन्द का भी प्रयोग प्राप्त होता है ।

प्रस्तुत कृति गीतगिरीश रागकाव्य के सभी गीतों में संगीत-

शास्त्र के नियमानुसार `ध्रुवक` (टेक) का प्रयोग हुआ है तथा इनके गीत राग, ताल, लय आदि में निबद्ध है । इस प्रकार कवि नृपति रामभट्ट को स्वर ताल लयबद्ध ललित गीत लिखने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है ।

(२) रामगीतगोविन्द रागकाव्य :

प्रस्तुत रागकाव्य जयदेव द्वारा विरचित है । यह गीतगोविन्द की परम्परा में लिखित सरस रागकाव्य है । प्रस्तुत रागकाव्य के प्रणेता जयदेव मिथिला निवासी थे । इनका जन्मकाल अनुमान प्रमाण के आधार पर निश्चित होता है । लेखक ने अपने काव्य के प्रथम सर्ग में अध्यात्म रामायण, काकभुशुंडि रामायण और हनुमान्नाटक का उल्लेख किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह रचना १४वीं शताब्दी से पूर्व की किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती है । इसका कारण यह है कि भारतीय विद्वान अध्यात्म रामायण का रचनाकाल १४०० से १६०० ई० के मध्य मानते हैं, इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि यह कृति १२ वीं शताब्दी में उत्पन्न बंगीय नृपति लक्ष्मणसेन के सभाकवि गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव की नहीं हो सकती है ; किन्तु फिर भी प्रस्तुत कृति का रचनाकाल १७वीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् १६२५ से १६५० में किसी समय भी मानना असंगत नहीं कहा जा सकता है ।

प्रस्तुत रागकाव्य में कुल ६ सर्ग है । समस्त काव्य मर्यादापुरुषोत्तम राम के ओजस्वी चरित से ओतप्रोत है । कवि ने इस काव्य में कहीं भी जयदेव की (राधा की) तरह माता सीता के सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया है, यही कारण है कि कवि के नाम के साथ रामभक्त विशेषण का प्रयोग किया है, यही कारण है कि सम्पूर्ण काव्य का अनुशीलन कर लेने के पश्चात कवि का हृदय राम के प्रति पवित्र श्रद्धामूलक भक्ति से ओत-प्रोत हो जाता है । इस प्रकार यह ओजगुण की अभिव्यक्ति करने वाला काव्य है । अन्य गीत काव्यों की भांति इसे शृङ्गाररसप्रधान काव्य कहना अज्ञता का परिचायक होगा । यह वीररस

का काव्य है । रामगीतगोविन्द रामकाव्य गीतों से परिपूर्ण है । इसमें समाश्रित पदावली का प्रयोग होने पर पाठकों को पढ़ते समय पद-पद पर माधुर्य की अनुभूति होती है । इस काव्य में अर्थबोध के लिये कहीं भी बुद्धि व्यायाम की आवश्यकता नहीं पड़ती है । कतिपय गीत तो इस काव्य में इस प्रकार के हैं, कि उन्हें पढ़ते ही मन भाव विभोर हो जाया करते हैं । रामगीतगोविन्द इस रामकाव्य के सभी गीतों में संगीतशास्त्र के नियमानुसार `ध्रुवक ` टेक का प्रयोग हुआ है । इनके गीत भी राग, ताल, लय आदि में निबद्ध हैं । अत: जयदेव को स्वर ताल लयबद्ध सरस गीत लिखने में अपूर्व सफलता मिली है ।

(३) गीतगौरीपति रामकाव्य :

गीतगौरीपति रामकाव्य महाकवि भानुदत्त द्वारा विरचित है । यह रामकाव्य भी गीतगोविन्द की परम्परा में लिखा गया है । भानुदत्त मिथिला प्रदेशवासी थे । डा० पी० वी० काणे ने इनका जन्मकाल लगभग १५४० ई० माना है ।[१] इसी मत को सुशील कुमार डे ने भी स्वीकार किया है तथा उन्होंने भी भानुदत्त का समय १४५० से १५०० ई० के मध्यावधि में निर्धारित किया है ।[२] भानुदत्त के पिता का नाम गणपति था । प्रस्तुत कृति के प्रणेता भानुदत्त का दूसरा नाम भानुकर भी था । इस कृति के प्रणेता भानुदत्त शैव थे अथवा वैष्णव इस विषय में प्रबल प्रमाण का अभाव होने पर भी प्रस्तुत गीतगौरीपति काव्य से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यह कुमारसंभव

१- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० पी० वी० काणे, पृ० ३८१

२- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : श्री सुशीलकुमार डे, पृ० २२६

के कर्ता कालिदास के समान शिवभक्त ही थे। भानुदत्त न केवल संस्कृत-भाषा के सुकवि थे अपितु काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। भानुदत्त ने जिन ग्रन्थों की रचना की है उनकी नामावली इस प्रकार है :—

१- रसमञ्जरी
२- रसतरङ्गिणी
३- अलंकारतिलक
४- रसपारिजात
५- चित्रचंद्रिका
६- गीतगौरीपति

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध 'संस्कृत के रागकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन' में भानुदत्त के इन सभी ग्रन्थों में गीतगौरीपति रागकाव्य का संक्षिप्त परिचय ही विवेचनीय है। प्रस्तुत रागकाव्य १० सर्गों में विभक्त है। इस भव्य-काव्य में भानुदत्त ने गौरी का शिव के प्रति प्रेम वर्णित किया गया है। गीतगौरीपति इस रागकाव्य का प्रत्येक सर्ग जयदेव के गीतगोविन्द काव्य के सदृश संगीतशास्त्र वर्णित रागों के नामोल्लेख से सुशोभित है। इस काव्य में पात्रों का बाहुल्य नहीं है। इस काव्य की भाषा सरल-सुबोध तथा प्रसाद-गुणगुम्फित है। भानुदत्त ने अपने इस काव्य में १५ वृत्तों का प्रयोग किया है। कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त के प्रयोग में महती प्रीति-प्रदर्शित की है। भानुदत्त की यह कृति रसराजशृङ्गाररस प्रधान है।

प्रस्तुत रागकाव्य के गीतों में कविकृत शब्दालंकार युक्त चमत्कार तथा भङ्गिमायुक्त पदावली में मृदिमा के साथ अर्थसौन्दर्य की गरिमा भी है। भानुदत्त ने अपने इस काव्य में अनुष्टुप, आर्या, इन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग बहुलता के साथ किया है।

इस प्रकार गीतगौरीपति रागकाव्य के सभी गीत राग, ताल

तथा लय में निबद्ध है । इसी कारण भानुदत्त को राग, ताल लयबद्ध गीत लिखने में अपूर्व सफलता मिली है ।

(४) संगीत रघुनन्दन रागकाव्य :

प्रस्तुत रागकाव्य के प्रणेता विश्वनाथ सिंह देव है । यह रीवां राज्य के राजा थे । श्री विश्वनाथ सिंह का शासनकाल १८३३ ई० के आरम्भ से १८५४ तक मानते हैं । इनकी दीक्षा गुरु प्रियादास के द्वारा सम्पन्न हुयी थी तथा इन्हें साहित्य-सृजन की प्रेरणा अपने पिता जो कि हिन्दी भाषा के कवि थे, महाराज जयसिंह से प्राप्त हुई । विश्वनाथ सिंह देव की अपनी बहुत सी टीका एवं भाष्य भी है । इनकी कृतियों में अधिकांश कृतियां आज भी प्रकाशित है । इनके द्वारा रचित कृतियों के नाम इस प्रकार हैं —

१- रामचन्द्राह्निकम
२- आनन्दरघुनन्दन नाटक
३- वाल्मीकि रामायण टीका
४- श्रीमद्भागवत टीका
५- सुमार्ग टीका
६- वेदस्तुति टीका
७- श्रीरामरहस्यत्रयार्थ
८- रामगीता टीका
९- धनुर्विद्या
१०- धर्मशास्त्रत्रिंशतश्लोकी
११- तत्वमस्यर्थसिद्धान्त
१२- रामपरत्वम
१३- ब्रह्मसूत्र
१४- सर्वसिद्धान्तम्

१५- संगीतरघुनन्दन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "संस्कृत के रागकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन" में विश्वनाथ सिंहदेव के इन सभी ग्रन्थों में संगीत रघुनन्दन रागकाव्य का संक्षिप्त परिचय ही विवेचनीय है ।

प्रस्तुत रागकाव्य १६ सर्गों में विभक्त है । इस रागकाव्य में श्रीरामचन्द्र का रसिक उपासना के अनुसार शृङ्गाररसमिश्रित वर्णन वर्णित किया गया है । यह रागकाव्य माधुर्य से युक्त गीत, सुन्दर श्लोक तथा गद्य से परिलक्षित है । इन्होंने अपने इस रागकाव्य में आर्या, उपेन्द्रवज्रा, बरवे, मालिनी आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है । संगीत रघुनन्दन रागकाव्य के सभी गीत राग ताल आदि में निबद्ध है । इसी कारण विश्वनाथ सिंह देव के संगीत रघुनन्दन रागकाव्य ने महती सफलता अर्जित की ।

(५) गीतपीतवसन रागकाव्य :

गीतपीतवसन रागकाव्य के प्रणेता श्री श्यामराम कवि है । कविवर श्यामराम ने भी पीयूषवर्षी जयदेव के गीतगोविन्द से प्रेरणा प्राप्त कर इस सरस रागकाव्य का निर्माण किया है । इस काव्य में भगवान श्रीकृष्ण तथा राधा के पवित्र चरित्र का वर्णन है । श्रीश्यामराम कवि के पिता का नाम दशरथ तथा माता का नाम अन्नपूर्णा था ।

स्वातालब्ध बद्ध यह रागकाव्य १० सर्गों में विभक्त है, सभी सर्ग प्राय: छोटे-छोटे हैं । इस रागकाव्य में बीच-बीच में सरस श्लोकों की संरचना भी हुई है । यह शृङ्गाररस प्रधान काव्य है । इस काव्य में कवि ने गीतों में सात पदों की संसृष्टि की है, जबकि जयदेव के गीतगोविन्द में प्रत्येक गीत में आठ पद प्राप्त होते हैं । अत: प्रस्तुत रागकाव्य में सात पदों के गीत की ही प्रधानता का बाहुल्य परिलक्षित होता है । श्लोकों में

कविवर ने संस्कृत-काव्यजगत में प्रसिद्ध मात्रिक वर्णिक वृत्तों का प्रयोग किया है । अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि कविवर सरस तथा मधुर गीत के निर्माण में तथा विभिन्न वृत्तों में श्लोकों का निर्माण करने में निपुण थे । इस राग-काव्य की भाषा कोमला सरला और प्रसादगुण से मण्डित तथा सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाली है । इन्होंने अपने इस काव्य में वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा आदि छन्दों का समुचित रूप से प्रयोग किया है ।

इस प्रकार गीतपीतवसन रागकाव्य के सभी गीत राग ताल आदि में निबद्ध है, इसी कारण उनका यह काव्य संस्कृत काव्यजगत में अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

(७) कृष्णगीत रागकाव्य :

प्रस्तुत लघुकाय रागकाव्य कविकुलचूड़ामणि सोमनाथ मिश्र द्वारा विरचित है । सोमनाथ मिश्र का जन्मप्रदेश और कुल अनुमान के आधार पर निश्चित होता है, ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह उत्तर भारत में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे । इनका जन्म सन् १६२५ के आस पास माना जा सकता है ।

सोमनाथ मिश्र ने महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द के आदर्श पर ही अपने कृष्णगीत रागकाव्य की रचना की है । ऐसी पुष्टि है । प्रस्तुत कृष्णगीत रागकाव्य गीतगोविन्द के सदृश सर्गों में विभक्त नहीं है । कवि ने कथा संयोजन के लिये गीत के बीच-बीच में श्लोकों की संरचना की है । इस रागकाव्य में अन्त्यानुप्रास का पालन नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना गीत में माधुर्य और सौन्दर्य नहीं आता है । यह शृङ्गाररस प्रधान रागकाव्य है । इसमें कवि ने कृष्ण वियोग में व्याकुल

राधिका का चित्रण किया है। अपने इस काव्य में सोमनाथ ने अनुष्टुप, उपजाति, द्रुतविलम्बित आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार 'कृष्णगीत' के सभी गीत रागताल आदि में निबद्ध होने के कारण संस्कृत साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

-0-

चतुर्थ अध्याय

गीत-गोविन्द - संस्कृत साहित्य का प्रमुख रागकाव्य

(क) गीत-गोविन्द के रचयिता - जयदेव

[अ] आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित १५ जयदेवों की तालिका एवं समीक्षा ।

[ब] चन्द्रालोक एवं प्रसन्नराघवकार जयदेव ।

[स] चन्द्रालोककार जयदेव एवं गीतगोविन्दकार जयदेव की भिन्नता ।

[द] चन्द्रालोककार जयदेव एवं पक्षधर जयदेव ।

(ख) गीतगोविन्द - सामान्य परिचय

[अ] स्वरूप ।

[ब] विषयवस्तु ।

[स] रासवर्णन - भागवत से अन्तर ।

[द] विभिन्न काव्य-भेदों के रूप में गीतगोविन्द का आकलन एवं समीक्षा ।

(ग) गीतगोविन्द की पात्र- योजना

[अ] नायक के विविध रूप -

१- दक्षिण

२- शठ

३- धृष्ट

(ब) नायिका के विविध रूप -

१- उत्कण्ठिता

२- अभिसारिका

३- कलहान्तरिता

४- विप्रलब्धा

५- स्वाधीनभर्तृका

६- खण्डिता

७- वासकसज्जा

८- प्रोषितभर्तृका

(घ) गीतगोविन्द में शृङ्गाररस तथा पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

(ङ०) गीतगोविन्द का काव्यपक्ष -

(अ) प्रकृति-चित्रण

(ब) अलंकार-योजना- अनुप्रासगत वैशिष्ट्य

(स) भाषा-शैली

(द) छन्दयोजना

(च) गीतगोविन्द में संगीतात्मकता

(छ) शास्त्रीय नृत्य-शैलियों में गीतगोविन्द का प्रस्तुतीकरण

(ज) गीतगोविन्द की अन्य व्याख्याएं

--

गीत-गोविन्द—संस्कृत साहित्य का प्रमुख रामकाव्य

(क) गीत-गोविन्द के रचयिता - जयदेव —

पीयूषवर्षी जयदेव की अप्रतिम कृति गीतगोविन्द भारतीय साहित्य की देदीप्यमान कौस्तुभ मणि है। संस्कृत भाषा का अद्वितीय लालित्य, सुकोमल पद-विन्यास, अर्थ की अनूठी रमणीयता, प्रेम और विरह से सम्बन्धित मानव अनुभूतियों की सुकोमल व्यंजना, भाव विभोर कर देने वाली संगीतात्मकता और उसके साथ पद-पद को आप्लावित करके बहने वाली भक्ति की विष्णुपदी की अजस्रधारा, इन सबका अद्भुत समन्वय इतने अधिक पूर्णरूप में केवल एकबार ही संस्कृत-साहित्य में घटित हुआ है।

प्रस्तुत रामकाव्य 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव नाम के अनेक व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

(ख) आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित १५ जयदेवों की तालिका एवं उसकी समीक्षा :

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान आफ्रेक्ट ने अपने 'कैटलागस कैटलागारम्' में जयदेव नामधारी १५ व्यक्तियों का उल्लेख किया है।[१]

१- जयदेव दीक्षित - नृसिंह के पुत्र, बलभद्र शुक्ल के संरक्षक।

२- जयदेव पण्डित - भगीरथ मेघ के गुरु।

३- जयदेव - दार्शनिक रूचिदत्त के पुत्र

४- जयदेव वागीश - कविचन्द्र के पुत्र, विष्णुराम के पिता।

१- कैटलागस कैटलागोरम् - पृ० सं० - १९९, २००।

५- जयदेव - अलंकारशतक के रचयिता ।

६- जयदेव - त्रिलोचन दास द्वारा उद्धृत ।

७- जयदेव - गंगाष्टपदी काव्य के कर्ता ।

८- जयदेव - नेमि और जनार्दन द्वारा उद्धृत ।

९- जयदेव - उपनाम पक्षधर - हरिमिश्र के शिष्य एवं भ्रातृज ।

१०- जयदेव कवि - त्रिपुरसुन्दरी स्तोत्र के प्रणेता ।

११- जयदेव - प्रश्नविधि के लेखक ।

१२- जयदेव - रसामृत के रचयिता ।

१३- जयदेव - नृसिंह के पुत्र ।

१४- जयदेव - भोजदेव एवं रामादेवी के पुत्र, गीतगोविन्द के प्रणेता । (रामगीतगोविन्द ?)

१५- जयदेव - महादेव और सुमित्रा के पुत्र, चन्द्रलोक तथा प्रसन्नराघव के कर्ता ।

इस प्रकार इनमें से बहुत तो ऐसे हैं, जिनकी कोई रचनाएं ही उपलब्ध नहीं है । यह भी सम्भावना की जा सकती है कि आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित ग्रन्थसूची में से बहुत सी रचनाएं एक ही व्यक्ति की हों, जिनका उन्होंने अलग-अलग उल्लेख कर दिया हो, जो कुछ भी हो, वास्तविकता अब अतीत के क्रोड में छिप चुकी है, केवल अनुमान एवं तर्क ही ऐसे आधार हैं, जिनकी सहायता से उस अतीत की वास्तविकता को जानने का प्रयास मात्र किया जा सकता है । आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित सूची में केवल तीन नाम ही ऐसे हैं, जिनके विषय

में यह सन्देह हो सकता है कि इनमें से कौन जयदेव गीतगोविन्द के कर्ता हैं, या कहीं ऐसा तो नहीं कि ये तीनों जयदेव केवल विभिन्न रचनाओं के आधार पर अलग-अलग मान लिये गये हों, वास्तविकता इससे कुछ भिन्न हो और ये सभी रचनाएं किसी एक ही जयदेव की हो ।

सम्भावित तीनों जयदेव इस प्रकार है—

१- गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव ।

२- गङ्गेशोपाध्याय द्वारा विरचित 'तत्वचिन्तामणि' के ऊपर 'आलोक' टीका के कर्ता जयदेव ।

३- चन्द्रालोक तथा प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव ।

(ब) <u>चन्द्रालोक एवं प्रसन्नराघवकार जयदेव :</u>

चन्द्रालोककार ने चन्द्रालोक के हर मयूख के अन्त्य श्लोकों में कुछ साधारण परिवर्तन के साथ अपना परिचय देते हुए अपने माता एवं पिता के नाम की ओर संकेत किया है।[१] जिसमें उनकी माता का नाम सुमित्रा तथा पिता का नाम महादेव है । साहित्यिक क्षेत्र में जयदेव पीयूषवर्ष नाम से

१- महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
चतुर्थे सेकोऽयं सुकवि जयदेवेन रचितो
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥

- चन्द्रालोक-सुधा, श्लोक संख्या १२६,
पृ० सं० २५३ ।

विख्यात है। चन्द्रालोक की राकागम व्याख्या के कर्ता 'गागाभट्ट' ने लिखा है कि —

जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामांतरम्।[१]

प्रसन्नराघव नाटक को भी निश्चित् रूप से चन्द्रालोककार जयदेव की ही रचना कहा जा सकता है, क्योंकि प्रसन्नराघव से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रसन्नराघव नाटक के रचयिता भी महादेव और सुमित्रा के पुत्र हैं।[२] यह अनुमान करना अस्वाभाविक न होगा कि इनकी पीयूषवर्ष उपाधि इनके व्यक्तित्व के वाग् विलास की लोकप्रियता की ओर इङ्गित करती है। इस प्रकार चन्द्रालोक एवं प्रसन्नराघव यह दोनों एक ही जयदेव की रचनाएं हैं।

(ख) चन्द्रालोककार जयदेव एवं गीतगोविन्दकार जयदेव की भिन्नता :

इस प्रकार चन्द्रालोक और प्रसन्नराघव को एक ही व्यक्ति की रचना सिद्ध करने के बाद यह समस्या सामने उपस्थित होती है कि क्या गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव चन्द्रालोककार जयदेव से भिन्न व्यक्ति हैं ? या

१- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : सुशीलकुमार डे से उद्धृत, पृ० सं० १८१

२- कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ।।
लक्ष्मणस्यैव यस्यास्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः ।

— प्रसन्नराघव, प्रथमोऽङ्क, श्लोक संख्या १४,१५,
पृ० सं० २२, २३ ।

दोनों एक ही है ? आफ्रेक्ट महोदय ने चन्द्रालोककार जयदेव एवं गीतगोविन्दकार जयदेव को एक ही व्यक्ति सिद्ध किया है तथा इसका आधार शैली एवं काव्यात्मक प्रतिभा का साम्य बताया है।[१] किन्तु यह बात तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती क्योंकि यह भी सम्भव है कि दोनों व्यक्तियों ने किसी तीसरे व्यक्ति का ही अनुकरण किया हो। अतः केवल शैली साम्य के आधार पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि चन्द्रालोक जयदेव एवं गीतगोविन्दकार जयदेव एक ही व्यक्ति है और वह भी ऐसी स्थिति में जबकि गीतगोविन्दकार जयदेव ने अपने ग्रन्थ के अन्त में अपने पिता का नाम भोजदेव और अपनी माता का नाम राधादेवी या रामादेवी बताया है[२] जो चन्द्रालोककार जयदेव के माता-पिता से सर्वथा भिन्न है। अब यह समस्या उपस्थित होती है कि ऐसी स्थिति में जबकि चन्द्रालोककार जयदेव एवं गीतगोविन्दकार जयदेव अपने माता पिता का भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख करते हुए अपने को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति बताते हैं, तो आफ्रेक्ट महोदय के पास ऐसा कौन सा ठोस प्रमाण है जिसके आधार पर उन्होंने इन दोनों व्यक्तियों को एक व्यक्ति सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है।

कतिपय विद्वान[३] गीतगोविन्द में आये हुए उस श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर दोनों जयदेव को एक व्यक्ति सिद्ध करने के मार्ग में आने वाली बाधा को बड़ी सरलता से दूर कर देते हैं, जिस श्लोक में गीतगोविन्दकार जयदेव

१- Z D MG XXV11, पृ० ३० — संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : सुशीलकुमार डे से उद्धृत, पृ० सं० १८२।

२- श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु ।।

- गीतगोविन्द - १२ । ५

३- आचार्य विश्वेश्वर, सिद्धान्त शिरोमणि — काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० सं० ८२, ८३।

ने अपने माता-पिता का परिचय दिया है । उन विद्वानों की इस मान्यता का आधार है - निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित कुम्भनृपति कृत "रसिकप्रिया" टीका सहित गीतगोविन्द में उक्त श्लोक की टीका न पाया जाना । यह तर्क भी ऐसा कोई ठोस तर्क नहीं है, जिसके आधार पर उक्त दोनों व्यक्तियों को एक मान लिया जाय, क्योंकि यह भी सम्भव है कि गीतगोविन्द का अन्त्य श्लोक होने के कारण उक्त श्लोक की टीका लुप्त हो गयी हो और अधुना अप्राप्य हो । यह भी सम्भव हो सकता है कि सरल होने के कारण इस श्लोक की टीका लिखी ही न गयी हो तो इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कहाँ तक न्यायसंगत होगा । इसमें विद्वज्जन ही प्रमाण हैं कि चन्द्रालोककार जयदेव एवं गीतगोविन्दकार जयदेव एक ही व्यक्ति हैं । निर्दिष्ट श्लोक की टीका करते हुए रसमञ्जरीकार शङ्कर ने उसे प्रामाणिक बताया है ।[1]

आचार्य विश्वेश्वर ने चन्द्रालोककार और गीतगोविन्दकार को एक मानने के पक्ष में एक युक्ति और दी है, उनका कथन है कि यदि इस श्लोक के आधार पर गीतगोविन्दकार जयदेव को चन्द्रालोककार जयदेव से भिन्न मानना चाहे तो फिर चन्द्रदत्तकृत भक्तमाल[2] के विवरण के अनुसार उन्हें उत्कल में स्थित "बिन्दुबिल्व" ग्राम का निवासी मानना होगा, उस दशा में "गीतगोविन्द" के प्रथम सर्ग में बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की

१- "अधुना पितृमातृनाम निबन्ध न्प्रार्थयते सज्जनान्"।

- गीतगोविन्द, रसमंजरी टीका, पृ० सं० १३१

२- जगन्नाथपुरीप्रान्ते देशे चैवोत्कलाभिधे ।

बिन्दुबिल्व इति ख्यातो ग्रामो ब्राह्मणसङ्कुलः ।।

— आचार्य विश्वेश्वर, सिद्धान्तशिरोमणि —

काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० सं० ८३ ।

राजसभा के पंचरत्नों का उल्लेख करने वाले श्लोक[१] की संगति कैसे होगी ? परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई असङ्गति है ही नहीं, क्योंकि हो सकता है कि गीतगोविन्दकार जयदेव का जन्म उत्कल के 'बिन्दुविल्व' ग्राम में हुआ हो किन्तु बाद में वे बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा के रत्न बन गये हों, लेकिन केवल इतने से ही दोनों जयदेवों की अभिन्नता सिद्ध नहीं होती, वह तो उस समय सिद्ध होती है, जब चन्द्रालोककार जयदेव स्वयं अपने को कुण्डिनपुर ग्राम का निवासी घोषित कर देते हैं[२] जो कि विदर्भ में स्थित एक ग्राम है । कतिपय विद्वान् जो इन्हें मिथिला का निवासी मानते हैं कौण्डिन्य: का अर्थ कौण्डिन्य गोत्र में उत्पन्न लगाते हैं । इस प्रकार आचार्य विश्वेश्वर जी जयदेव के माता-पिता का उल्लेख करने वाले श्लोक को इसलिये प्रक्षिप्त मान लेते हैं क्योंकि भक्तमाल के विवरण के अनुसार उन्हें उत्कल-निवासी मानना होगा, ऐसी दशा में जयदेव (गीत-गोविन्दकार) को लक्ष्मणसेन का दरबारी कवि मानने में कठिनाई होगी, ये सारे तर्क सारहीन प्रतीत होते हैं । अत: इनके आधार पर कोई प्रामाणिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है ।

कतिपय विद्वानों ने कालसाम्य के आधार पर चन्द्रालोककार एवं गीतगोविन्दकार को एक व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, लेकिन यह भी अज्ञान विजृम्भणमात्र ही है,क्योंकि गीतगोविन्दकार जयदेव उत्कल में

१- काव्य प्रकाश - आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि - काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० सं० ८२ ।

२- कवीन्द्र: कौण्डिन्य: स तव जयदेव: श्रवणयो
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनय: ।।

-- प्रसन्नराघव, प्रथमोऽङ्क, श्लोक १४,
पृ० सं० २२ ।

उत्पन्न हुए थे और बाद में बंगाल के सेनवंशीय राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि हो गये थे जैसा कि लक्ष्मणसेन के सभाभवन के द्वार पर अंकित श्लोक से ज्ञात होता है जबकि चन्द्रालोककार अपने को कुण्डिनपुर का निवासी बताते हैं जो विदर्भ में स्थित है और इस प्रमाण के अभाव में भी यह कहा जा सकता है कि एक ही समय में एक नाम के कई व्यक्ति हो सकते हैं इस प्रकार केवल काल-साम्य के आधार पर एक नाम-वाले दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को एक कहना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

0 द ‖ चन्द्रालोककार जयदेव एवं पक्षधर जयदेव :

जयदेव नाम के एक तीसरे विद्वान मिथिला में हुए थे जो 'पक्षधर' नाम से विख्यात थे। ये नव्यन्याय के आचार्य थे। इन्होंने गङ्गेशोपाध्याय विरचित 'तत्वचिन्तामणि' नामक दर्शन ग्रन्थ पर 'आलोक' नाम की एक टीका लिखी थी। कतिपय विद्वानों ने इन्हीं दार्शनिक जयदेव से चन्द्रालोककार जयदेव की अभिन्नता स्वीकार की है और उसका आधार 'प्रसन्नराघव' नाटक का वह श्लोक है जिसमें जयदेव ने अपने को एक साहित्यिक रचना में निपुण होने के साथ-साथ प्रमाण-प्रवीण दार्शनिक भी घोषित किया है।[१] परांजपे तथा पनसे ने जयदेव को पक्षधर जयदेव नामक तार्किक से अनन्य सिद्ध करने तथा उसे १५०० और १५७७ ई० के मध्यवर्ती काल में निर्धारित

१- येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भ शिखरे नारोपणीयाः शराः ।।

-- प्रसन्नराघव, प्रस्तावक, श्लोक १८,
पृ० सं० २६, २७।

करने का यत्न किया है ।[1]

इस प्रकार पक्षधर नामक तार्किक से जिनका दूसरा नाम जयदेव भी है, अनन्यता की बात सन्देहास्पद है । आफ्रेक्ट ने इन दोनों नामों का पृथक-पृथक उल्लेख किया है । इसमें सन्देह नहीं कि पक्षधर केवल एक उपाधि है और उपर्युक्त तार्किक को यह उपाधि इसलिये दी गयी थी क्योंकि वे किसी भी पक्ष को तर्क द्वारा सिद्ध करने में समर्थ थे ।[2] इसी प्रकार 'प्रसन्नराघव' में आये हुए प्रमाण-प्रवीण के आधार पर चन्द्रालोककार जयदेव को 'पक्षधर' जयदेव से अभिन्न स्वीकार कर लेना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि किसी की विद्वत्ता को सीमित नहीं किया जा सकता । एक ही साथ कोई व्यक्ति कई विषयों में समान अधिकार प्राप्त कर सकता है, वैसे इस बात में सन्देह के लिये लेशमात्र भी अवकाश नहीं है कि चन्द्रालोककार जयदेव अपने समय के एक प्रतिष्ठित दार्शनिक भी थे ।

इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जयदेव नाम के यह तीनों व्यक्ति एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है ।

(ख) गीतगोविन्द - सामान्य परिचय —

जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा के प्रमुख रत्न थे । राजा लक्ष्मणसेन के सभाभवन के द्वार पर इन 'सभारत्नों' के नाम शिलापट्ट पर एक श्लोक के रूप में निम्नलिखित प्रकार अंकित थे —

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापति: ।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ।।[3]

१- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : सुशीलकुमार डे, पृ० सं० १८३ ।
२- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : सुशीलकुमार डे से उद्धृत, पृ०सं० १८२।
३- काव्यप्रकाश, पृ० सं० ८२ ।

इनमें से गोवर्धनाचार्य "आर्यासप्तशती" के रचयिता के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। जयदेव "चन्द्रालोक" और "प्रसन्नराघव" नाटकादि अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं। "कविराज" पद कदाचित् धोयी कवि के लिये प्रयुक्त हुआ है। जयदेव कवि ने "गीतगोविन्द"[1] में अपने सभी साथी कवियों का उल्लेख इस प्रकार किया है —

> वाच: पल्लवयत्युमापतिधर: सन्दर्भशुद्धिं गिरां
> जानीते जयदेव एव शरण: श्लाघ्यो दुरूहद्रुते: ।
> शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्द्धन -
> स्पर्धी कोऽपि न विश्रुत: श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापति: ।।

जयदेव ने उमापतिधर, शरण, गोवर्धनाचार्य तथा धोयी के नामों का उल्लेख किया है। सम्भवत: यह सभी उनके समकालीन थे और इनमें से कुछ लक्ष्मणसेन के दरबार के प्रसिद्ध कवि थे। जयदेव ने अपने कथित आश्रयदाता का नाम नहीं लिया है, यद्यपि दरबारी कवि सदा अपने आश्रयदाता का केवल नाम ही नहीं लेते हैं, बल्कि अपनी कविता के माध्यम से उनके प्रति श्रद्धा भी व्यक्त करते हैं। पर अन्य स्रोतों से ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे, इस बात को सभी लोग स्वीकार करते हैं कि जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना अपने आश्रयदाता राजा लक्ष्मणसेन की प्रेरणा से की है। इस प्रकार लक्ष्मणसेन के समकालीन होने से उनका काल लगभग ११०० ई० है। जयदेव का जन्म बंगाल के केन्दुबिल्व ग्राम में हुआ था। गीतगोविन्द के १२ वें सर्ग का श्लोक निम्नलिखित प्रकार पाया जाता है[2] —

१- गीतगोविन्द - १। ४

२- गीतगोविन्द - १२ । २४ । ५

श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामा - (धा)- देवीसुतश्रीजयदेवकस्य ।

पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु ।।

इस प्रकार इस श्लोक में जयदेव को भोजदेव और रामादेवी का पुत्र कहा है ।

इस प्रकार द्वादश शताब्दी में बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के कृती सभाकवि जयदेव द्वारा रचित इस ग्रन्थ के अनुकरण पर डेढ़ सौ से अधिक अन्य गीतकृतियों की रचना हुई, किन्तु वे गीतगोविन्द के महत्व को न घटा सकीं । इस मणिमाला का सुमेरु गीतगोविन्द ही बना । 'गीत-गोविन्द' विष्णु का ज्योति: स्वरूप वह 'परम पद' है, जो सर्वोच्च आकाश में अवस्थित है, जिसे देखकर सूरिगण प्रेरणा ग्रहण करते हैं तथा जो ऊंचे से ऊंचे उड़ने वाले पक्षियों की उड़ान से बाहर हैं ।[1] इस प्रकार विश्व वाङ्मय में शायद ही कोई ऐसा ग्रन्थ हो जिसने कला के हर क्षेत्र को इतना अधिक प्रभावित किया हो, जितना गीतगोविन्द ने । क्या साहित्य, क्या संगीत, क्या मूर्तिकला, क्या चित्रकला और क्या धर्म कोई भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा है । गीतगोविन्द के सूक्ष्म एवं सरस भावचित्रों को लेकर एक से एक सुन्दर कलाकृतियों की रचना हुई । पहली बार गीतगोविन्द ने राधा को कृष्णभक्ति सम्प्रदाय में सुप्रतिष्ठित किया और मधुरा भक्ति की नींव डाली । कहां होते चैतन्य महाप्रभु, कहां उनका 'राधाभाव' और कृष्ण के प्रति आत्मविस्मृतिकारी उन्माद, यदि जयदेव पहले न हो गये होते

१- तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय: ।
दिवीव चक्षुराततम् ।।

- ऋग्वेद - १।२२। २०, पृ० सं० १२८

तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्त: पतत्रिण: ।।

- ऋग्वेद - १। १५५ । ५, पृ० सं० १०३१ ।

गीतगोविन्द की यमुनोत्री के बिना कहां से प्रवाहित होती उत्तर भारत में कृष्णभक्ति की कलुषहारिणी कालिन्दी और कहां से सुनाई पड़ती लोक-गीतों में कन्हैया की बांसुरी पर थिरकती राधा के हृदय की धड़कने ?

(अ) स्वरूप :-

गीतगोविन्द का आकार की दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह एक छोटी-सी रचना है। जो मुद्रित अवस्था में बीस से लेकर तीस पृष्ठ से अधिक स्थान नहीं लेती, तथापि यह अपने में इतनी पूर्ण, इतनी अनवद्य तथा इतनी परिष्कृत है कि श्लोक में तो क्या एक भी शब्द, बल्कि यह कहना चाहिये कि एक भी अक्षर न इसमें कहीं अतिरिक्त है और न न्यून। इसकी पदशय्या इतनी अद्भुत है एवं शब्दचयन इतना उत्कृष्ट है कि उसको बदल देना या उसके स्थान पर किसी दूसरे पद समूह को रख देना असम्भव है। वर्षों की शब्द-साधना, चिरकाल के अभ्यास और अपने इष्टदेव के प्रति अटूट भक्ति भावना से ध्यान और समाधि की अवस्था में उसकी भावनाओं एवं अनुभूतियों से एक हो जाने पर ही ऐसे अद्वितीय अनुपम काव्य की सृष्टि हो सकती है। यद्यपि जयदेव की यही एकमात्र कृति आज उपलब्ध है, यह उनकी प्रथम कृति नहीं हो सकती, अन्तिम ही होगी।

गीतगोविन्द इस विलक्षण रचना का सर्गों एवं प्रबन्धों में भी विभाजन हुआ है। इस रासकाव्य में १२ सर्ग है। प्रत्येक सर्ग गीतों से समन्वित है ; सर्गों को परस्पर मिलाने के लिये तथा कथा के सूत्र को बतलाने के लिये कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी है। इसी प्रकार गीतगोविन्द में प्रत्येक प्रबन्ध एक गीत है, इस काव्य में २४ गीत हैं, जोकि कृष्ण-लीला से सम्बन्धित विभिन्न स्थितियों का, कृष्ण और राधा के भावों एवं अनुभूतियों का तथा प्रकृति के उद्दीपन रूप का पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं। यह गीत प्राय: आठ से

लेकर दस पदों या श्लोकों के हैं, तथा अपने में पूर्ण है । विषय-वस्तु की दृष्टि से प्रत्येक का आदि और अन्त स्पष्टतया निर्धारित है । इस प्रकार इस रागकाव्य में श्लोक, गद्य तथा गीत इन तीनों का मंजुल समन्वय हुआ है । पाठ्य पद्यों का प्रयोग वर्णनात्मक प्रसंगों में किया गया है, तथा गद्य का प्रयोग प्राय: सम्वादों में पात्रों की मनोदशा सूचित करने के लिये हुआ है । भावों की मार्मिक अभिव्यंजना गीतों द्वारा की गयी है । इस प्रकार जयदेव ने गीतगोविन्द में गीतों एवं श्लोकों की सम्पूर्ण सामग्री को १२ सर्गों में विभाजित किया है । जयदेव ने प्रत्येक सर्ग का एक विशेष नामकरण भी किया है, जिनमें विष्णु के प्राय: वे १२ अभिधान प्रयुक्त हुए हैं जो द्वादश आदित्यों के अनुकरण में श्रीमद्भागवत आदि वैष्णव ग्रन्थों में वर्ष के १२ मासों से सम्बद्ध है । जैसे - केशव, दामोदर, पुण्डरीकाक्ष, मधुसूदन आदि । प्रत्येक नाम के साथ जयदेव ने एक ऐसा विशेषण जोड़ा है, जिसका विशेष्य के साथ अनुप्रासात्मक ध्वनि साम्य है । उदाहरणार्थ प्रथम सर्ग का शीर्षक 'सामोददामोदर', द्वितीय का 'अक्लेशकेशव', तृतीय का 'मुग्धमधुसूदन', चतुर्थ का 'साकांक्षपुण्डरीकाक्ष' तथा पञ्चम का 'सोत्कण्ठवैकुण्ठ' है । इन सर्गों का विभाजन कृष्ण और राधा की प्रणय लीला की विभिन्न स्थितियों के अनुसार है । किसी में कृष्ण की चिन्ता एवं दैन्य वर्णित है तो किसी में राधा के प्रति सखि की उक्ति एवं उसके उपदेश । प्रत्येक सर्ग की जो केन्द्रीय विषय-वस्तु है, उससे सम्बन्धित गीत उसमें समाविष्ट कर लिये गये हैं । यही कारण है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सर्ग में दो-दो ही गीत हों, किसी सर्ग में एक ही गीत है तो किसी में तीन या चार भी ।

गीतगोविन्द इस रागकाव्य के स्वरूप विवेचन सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वानों की धारणा इस प्रकार है — 'गीतगोविन्द' की रचना कौशल सर्वथा मौलिक है । कुछ पाश्चात्य विद्वान उसे ग्राम्य रूपक (Pastoral drama), गीति नाटक (Lyric drama) अथवा परिष्कृत यात्रा (refined Yatra)

मानते हैं। पिशेल और लेवी के मतानुसार 'गीतगोविन्द' का स्थान गीतिकाव्य और नाटक के बीच का है। पिशेल गीतगोविन्द को संगीत रूपक (Melodrama) भी मानते हैं।[1] डा० कीथ का मत इसके विपरीत है, जयदेव ने अपने काव्य को सर्गों में विभक्त किया है। यह इस बात का स्पष्ट चिह्न है कि उन्होंने इसे सामान्य काव्य की कोटि का माना है। अंकों और विष्कम्भादि में विभक्त करके इसे नाटकीय प्रयोग बनाने का उनका विचार नहीं था।[2]

(ब) विषयवस्तु :-

गीतगोविन्द में एक अभिनव रचना प्रणाली का नवीन सूत्रपात किया गया है। इस काव्य के तीन चरित्र हैं, सखी, राधा और कृष्ण। गीतगोविन्द के प्रारम्भिक मंगलाचरण श्लोक में कवि वर्षाकालीन भयावह अंधेरी सन्ध्या की अवतारणा करता है जिसमें राधा और कृष्ण दोनों को नन्द के घर से अपने-अपने यहाँ वापस लौटना है, राधा कृष्ण से अधिक समझदार तथा निर्भीक है वे राधा से कहते हैं कि यह कृष्ण डरपोक है। बरसात की इस अंधेरी रात में इसे घर जाने में डर लग रहा है, राधा तुम्हीं इन्हें घर पहुंचा आओ। इस प्रकार मार्ग में ऋतु वातावरण एवं परिवेश के प्रभाव से राधा और कृष्ण दोनों के हृदय में प्रणय का उद्दाम आवेग उत्पन्न होता है, जोकि किशोर सुलभ लज्जा के बांध को ढहाकर यमुना के किनारे अवस्थित लता कुंजों में परिपूर्णता को प्राप्त होता है। यहाँ राधा मुख्य पात्र है तथा कृष्ण गौण।

इस प्रकार विषयवस्तु सूचक इस मंगलाचरण के पश्चात कवि जयदेव प्रथम गीत में कृष्ण के दस अवतारों की वर्णना करते हुए

१- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा - पृ० सं० ३३४ ।

२- संस्कृत साहित्य का इतिहास : डा० कीथ, पृ० सं० २३१, २३२ ।

'जय जगदीश हरे ' वाक्य समूह से उनकी वन्दना करते हैं, इस प्रकार गीतगोविन्द का प्रथम गीत दशावतार का स्तुतिपरक है और इसका ध्रुपद 'जय जगदीश' शब्द स्पष्टतया जगन्नाथ की प्रतीति कराता है । यह ध्यातव्य है कि इस गीत में कृष्ण या जगन्नाथ को एक अवतार नहीं अपितु अवतारी के रूप में स्वीकार किया गया है । मत्स्य कूर्म आदि सम्पूर्ण दशावतार कृष्ण के हैं विष्णु के नहीं । 'वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते - - - - - दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः' आदि श्लोक भी इसी तथ्य से समाप्त होता है । गीतगोविन्द के दूसरे गीत में जयदेव कृष्ण के चरित एवं उनकी लीलाओं का गुणगान करते हैं और इन कृष्ण को 'जयदेव' की संज्ञा प्रदान करते हैं । तीसरे और चौथे गीत में एक सखी राधा से कृष्ण के द्वारा वसन्त श्री से पूरित वनस्थली में गोपियों के साथ की जाती हुई क्रीड़ाओं का रसमय वर्णन करती है । वर्षा के स्थान पर वसन्त ऋतु आ गयी है, कृष्ण के हृदय में प्रेमरस का सर्वप्रथम अंकुर जगाने वाली राधा कृष्ण की इस बदली हुई रुचि और उनकी उपेक्षा से जहां खिन्न है, वहीं गोपियों के प्रति ईर्ष्यालु भी है । यही कारण है कि राधा के लिये कवि ने 'वलदबाधा' विशेषण का प्रयोग किया है, जो कि बाद में यामि (अन्तिम सर्ग) में 'निराबाधा' हो जाती है । इसी प्रकार गीतगोविन्द के द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में 'विगलित निजोत्कर्ष' अर्थात राधा कृष्ण के साथ की गयी अपनी पुरानी प्रणय केलियों के सुखद स्मरण में लीन हो जाती है, और अपनी अन्तरंग सखि से अपने प्रथम समागम के सम्पूर्ण रहस्य को क्रमशः उद्घाटित करती है, यही कारण है कि द्वितीय सर्ग के पश्चात जो कुछ भी होता है, वह एक स्तर पर मानवीय प्रेमकथा पर अवलम्बित है, एक तो शृङ्गार की कथा तथा दूसरे स्तर पर जीवात्मा और परमात्मा के पारस्पर सम्बन्ध के सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप है । राधा कृष्ण से अलग हो जाती हैं, कृष्ण गोपियों के साथ नृत्य करते हैं, राधा उस नृत्य को देखती है और उस नृत्य को देखते हुए यह भी जानती है कि कृष्ण अपने ही बहुरूपों के साथ नृत्य कर रहे हैं । इस प्रकार उनके मन की भावना, उनके मन की वेदना और यातना दूसरे

और तीसरे सर्ग की कथावस्तु है । यही कारण है कि इन सर्गों में कृष्ण के रास का तथा राधा के वियोग का वर्णन है । किन्तु यह वियोग कृष्ण का भी है । इसीलिये चौथे प्रबन्ध (गीत) में कृष्ण के पश्चाताप का वर्णन है, यद्यपि कृष्ण यह जानते हैं कि परमात्मा भी उनके रूपों में अपने को विस्मृत कर देता है, इस प्रकार उसमें तथा राधा की भक्ति में अन्तर है, इसीलिये बार-बार वह स्वयं को धिक्कारते हैं । कृष्ण यह जानते हैं कि राधा कृष्ण को गोपियों के साथ रास करते हुए देखकर रुष्ट होकर चली गयी है और वे अपने आपको बार-बार धिक्कारते हैं । तत्पश्चात सखि पहले राधा के समक्ष कृष्ण की इस अवस्था का वर्णन करती है । पांचवे सर्ग के प्रबन्धों में कृष्ण यमुना के तट पर राधा की प्रतीक्षा कर रहे हैं ; उसका वर्णन है, तथा सखी राधा से विनती करती है कि वह कृष्ण के समीप जाये । इस प्रकार इन दो प्रबन्धों में कृष्ण की उस अवस्था का ऐसा वर्णन किया गया है जो संस्कृत काव्य में पहले कभी नहीं व्यक्त हुई, यही कारण है कि न तो विष्णुपुराण के कृष्ण और न ही श्रीमद्भागवत के कृष्ण इस प्रकार की व्यथा यातना तथा वियोग में पश्चाताप के दु:ख से भरे हुए हैं । जयदेव के कृष्ण मानव कृष्ण हैं, उनमें वैसी ही वेदना और यातना है, जैसी कि राधा में । एक पत्ता हिलता है तो वह यह समझते हैं कि राधा आ गयी, अत: उनकी जो वेदना है, वह एक स्तर पर मानव वेदना है । इसी प्रकार दूसरे स्तर पर वह उस परमात्मा की बात करते हैं, जो निर्गुण है और उसका सगुण से जो सम्बन्ध है, इस प्रकार दोनों का रागात्मक सम्बन्ध है । गीतगोविन्द के षष्ठ सर्ग में सखी कृष्ण के पास जाती है और राधा का वर्णन करती है । राधा प्रत्येक दिशा में कृष्ण को देखती है, और फिर 'पश्यति दिशि दिशि' आदि के पदों में राधा किस प्रकार कृष्ण के लिये आतुर है इसका वर्णन किया गया है । इस प्रकार मानव के सन्देह, मानव की ईर्ष्या, मानव के संशय ही राधा के वह संशय है जिसमें कृष्ण के प्रति आकर्षण अवश्य है, किन्तु अपने मन के

संशय के कारण और अपने ही सन्देहों से ढके होने के कारण राधा कृष्ण तक नहीं पहुंच पाती, उसके मन के सन्देह मानव के सन्देह है। किन्तु जब साकार रूप में कृष्ण उसके समक्ष आते हैं तो वह फिर उनको धिक्कार कर लौटा देती है। इसके पश्चात फिर राधा का वियोग और कृष्ण का वियोग होता है, सखी इस वियोग का हेतु बनती है, तथा कभी राधा के पास तो कभी कृष्ण के समीप जाती है। कृष्ण जब राधा के सम्मुख आते हैं तब भी राधा की मन:स्थिति ऐसी नहीं है कि वह उनको स्वीकार करे, तब कृष्ण प्रकट होते हैं, किन्तु राधा का मन अभी भी तैयार नहीं है कि वह उनको धिक्कार कर 'याहि माधव, याहि माधव' कहकर लौटा देती है। कृष्ण और राधा पुन: पश्चाताप करते हैं, तब सखी शनै: शनै: दोनों का मिलन करा देती है। अन्तिम प्रबन्धों में इसी प्रकार के वर्णन वर्णित है। जो यह सूचित कर देते हैं कि राधा का कृष्ण से मिलन हुआ है। कृष्ण राधा की अनेक प्रकार से विनती करते हैं, 'प्रिये चारुशीले' यह पद उस कृष्ण का क्रन्दन है। इस प्रकार अन्त में मिलन स्वाभाविक है, किन्तु उस मिलन के पश्चात पुन: दोनों का संसार अलग हो जाता है और तब राधा एकबार पुन: कृष्ण से विनती करती है कि वह उनको अलंकृत कर दे और उनको इस संसार का रूप दे दे जो संसार जीवात्मा में विलीन हो चुका है। इस प्रकार इन समस्त विषय-वस्तु का पिष्टपेषण करने के पश्चात ज्ञात होता है कि इस रागकाव्य की कथावस्तु अत्यन्त लघु है क्योंकि किसी भी काव्य में उसकी कथावस्तु का पक्ष एक छोटा-सा पक्ष ही होता है तथा उसी कथावस्तु में जो भावनाएं और जो अलंकरण होते हैं वे अपने में महत्वपूर्ण होते हैं।

0 स । रासवर्णन —भागवत से अन्तर :—

गीतगोविन्द में जयदेव ने शृङ्गारिक गीति-परम्परा और लीलागान की परम्परा का विचित्र समन्वय किया है।

रास वर्णन को गीतगोविन्द में प्रमुख स्थान प्राप्त है । सम्भव है कि रास-वर्णन में वे श्रीमद्भागवत से प्रभावित हों, पर भागवत के रास वर्णन और गीतगोविन्द के रास वर्णन में मौलिक भेद दृष्टिगत होता है । भागवत में यह रास शरदपूर्णिमा का रास है, परन्तु जयदेव उस रास को बसन्त के रास में परिवर्तित कर देते हैं और उसी परिवर्तन के फलस्वरूप कृष्ण कथा पूर्णतया भिन्न हो जाती है । इस प्रकार राधा और कृष्ण की कल्पना अब भागवत की कल्पना नहीं रह जाती है । इसी प्रकार भागवत की रासलीला आध्यात्मिक धरातल से नीचे नहीं उतरती, जबकि गीतगोविन्द में वह सर्वथा लौकिक पृष्ठ-भूमि पर चित्रित हुई है । भागवत में एक विशिष्ट गोपी के साथ कृष्ण के अन्तर्हित होने का उल्लेख मात्र है, उसमें राधा के साथ कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं का विशद चित्रण नहीं है, जबकि गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण की केलियों को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है, कृष्ण की प्रेयसी के रूप में राधा को साहित्यिक रंगमंच पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय मुख्यतया जयदेव को ही है । अत: सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव की कृति का आधार भागवत परम्परा से भिन्न लीलागान की कोई स्वतन्त्र परम्परा रही होगी । इसी प्रकार भागवत के रास का स्थान 'कुमुदामोदवायु'[1] यमुना का पुलिन है, जबकि गीतगोविन्द का लवङ्गगन्ध से कोमल मलय समीर वाला 'कोकिल कूजित कुञ्ज-कुटीर कानन'[2] है ।

भागवत और गीतगोविन्द के रासवर्णन में कहीं-कहीं कुछ साम्य

१- भागवत - दशम स्कन्ध, २९ वे अध्याय, ४५ श्लोक, पृ० सं० १९८ ।

२- गीतगोविन्द - १ । ३ । १

में दृष्टिगोचर होता है । यथा — उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है —

> काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिता: ।
> उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ।।[1]

अर्थात कोई मुकुन्द के साथ स्पष्ट स्वर में उसके साधुवाद से सम्मानित होकर गान करती थी ।

गीतगोविन्द में इस प्रकार है —

> करतलतालतरलवलयावलिकलितकलस्वनवंशे ।
> रासरसे सहनृत्यपरा हरिणा युवति: प्रशशंसे ।।[2]

अर्थात् हरि करतलों से ताल देने में चंचल वलयों से मुखरित रास के आनन्द में नाचती हुई युवती की प्रशंसा करते थे ।

भागवत में इस प्रकार है —

> तत्रैकांसगतं बाहु कृष्णस्योत्पल सौरभम् ।
> चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ।।[3]

आशय यह है कि उनमें से एक ने अपने कन्धे पर रखी हुई कृष्ण की कमल गन्ध चन्दन लिप्त बाहु को चूम लिया ।

गीतगोविन्द के अनुसार —

> कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले ।
> चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ।।[4]

१- भागवत - १० । ३३ । १०, पृ० सं० २१५

२- गीतगोविन्द - १। ४। ६

३- भागवत - १०।३३।१२, पृ० सं० २१५

४- गीतगोविन्द - १।४।४

रूप का निर्माण जयदेव का अपना योगदान है । इसलिये इससे पूर्व गाथा-सप्तशती में राधा का नामोल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु फिर भी राधा इस पात्र की सृष्टि के सन्दर्भ में संकेत वाहे गीतगोविन्द से पूर्व भी मिलते हैं किन्तु नायिका के रूप में, एक स्वतन्त्र चरित्र के रूप में, राधा संस्कृत काव्य जगत में इससे पूर्व नहीं आयी थी । इससे पूर्व जो भी चरित्र आया है, वह एक गोपी के रूप में है । गोपियों का कृष्ण के साथ जो रास है और उसके वर्णन के सन्दर्भ में ही राधा का संकेत मिलता है । इस प्रकार वियोग और सम्भोग का जो पक्ष जयदेव सामने रखते है, वह उन्हीं की मूलप्रेरणा और मूलकृति है ।

(द) विभिन्न काव्यभेदों के रूप में गीतगोविन्द का आकलन एवं समीक्षा:-

गीतगोविन्द का विभिन्न काव्य-भेदों के रूप में निरूपण इस प्रकार है । गीतगोविन्द काव्य को कतिपयजन महाकाव्य की कोटि में परिगणित करते हैं तथा कुछ लोग इस मत के विरुद्ध भी हैं । डा० आर्येन्द्र शर्मा ने इसे महाकाव्य के रूप में स्वीकार किया है[1] उचित नहीं है, क्योंकि काव्य की संघटना तथा द्वादश सर्ग में विभक्त करने के कारण कोई भी काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता है, क्या इसके अतिरिक्त महाकाव्य की जो विशेषताएं हैं इसमें नहीं पायी जाती है तथा आचार्यों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के लक्षण भी इसमें पूर्णतया घटित नहीं होते हैं । अतः महाकाव्य कहना सर्वथा अनुचित होगा । इसी प्रकार यद्यपि खण्डकाव्य के रूप में गीतगोविन्द की कथावस्तु अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त है । किन्तु फिर भी आचार्यों द्वारा निर्धारित खण्डकाव्य के लक्षण तथा विशेषताएं इसमें घटित नहीं हो पाती,

---

१- गीतगोविन्द : डा० आर्येन्द्र शर्मा, संस्कृत परिषद, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।

अत: इसे सण्डकाव्य के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता है । इस प्रकार वस्तुत: गीतगोविन्द काव्य श्रव्यकाव्य विधा की किसी कोटि के अन्तर्गत नहीं आता, यह गेय नाट्य है । काव्यभेदों के अन्तर्गत गेय नाट्य की चर्चा न होने के कारण परम्परावादी भारतीय विद्वान इस मत का खण्डन करते हैं, परन्तु परम्परा को ही आधार मान लेना उचित नहीं कहा जा सकता । प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचन्द्राचार्य ने नयी दिशा प्रदान की है, उन्होंने काव्यानुशासन के अष्टम अध्याय में प्रबन्धात्मक काव्य में दृश्यकाव्य के दो भेद पाठ्य और गेय माना है।[1]

'प्रेक्ष्यं पाठ्यं गेयं च ।'

तथा गेय को भी कई भेदों में विभाजित किया है।[2]

'गेयं डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिङ्गकभाणिकाप्रेरणरामाक्रीडहल्लीसकरासकगोष्ठीश्रीगदितरागकाव्यादि ।'

हेमचन्द्राचार्य ने अन्य साहित्यशास्त्रियों के समान नाटक के लिये दृश्य का नहीं अपितु प्रेक्ष्य शब्द का प्रयोग किया है । नाटक का यह वर्गीकरण हेमचन्द्राचार्य ने कदाचित अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती में वर्णित रागकाव्य से प्रेरित होकर किया है । उन्होंने इसकी पुष्टि के लिये काव्यानुशासन की स्वरचित टीका 'अलंकार चूडामणि' में अभिनवभारती की शब्दावली को साधारण परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है[3] —

'तथापि गीताश्रयत्वेन वाद्यादे: प्रयोग इति गेयमिति निर्दिष्टम्।

१- काव्यानुशासन - अष्टम् अध्याय, पृ० सं० ३१७ ।

२- काव्यानुशासन - अष्टम् अध्याय, पृ० सं० ३२७ ।

३- काव्यानुशासन - अष्टम् अध्याय, पृ० सं० ३२८ ।

रागकाव्येषु च गीतेनैव निर्वाहः । तथा हि - राघवविजयस्य विचित्र-वर्णनीयत्वेऽपि ढक्करागेणैव निर्वाहः, मारीचवधस्य तु ककुभग्रामरागेणैवेति ।

यह अभिनव भारती का उल्लेख नहीं है, वस्तु गीतगोविन्द को गेय नाट्य की परिभाषा से बाधित करना असंगत नहीं है ।

इस प्रकार इन सभी मतों के परिणामस्वरूप गीतगोविन्द काव्य को भावनाप्रधान लघुकाव्य रागकाव्य मानना समीचीन है ।

--

(ग) गीतगोविन्द - पात्र-योजना —

(अ) नायक के विविध रूप :-

गीतगोविन्द को प्रबन्धात्मक रागकाव्य कहा जा सकता है । रसिक शिरोमणि वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण इसके नायक हैं तथा रूप लावण्य एवं प्रेम की प्रतिमा नागरी राधा इसकी नायिका हैं । शृङ्गाररस की मीमांसा करते समय आचार्यों ने नायक तथा नायिकाओं का विवेचन किया है । नायक को दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल इन कोटियों में विभक्त किया है । नायक का यह विभाजन नायिका के साथ उसके व्यवहार को ध्यान में रखकर किया जाता है । यही कारण है कि गीतगोविन्द में कृष्ण नायक समय-समय पर विविध प्रकार के व्यवहार के कारण विविध लक्षणों से सम्पन्न होता है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है :-

१- दक्षिण :-

गीतगोविन्द में कृष्ण दक्षिण नायक बनकर कभी तो राधा के चरणों को करकमलों से दबाकर उसके चलने के श्रम का निवारण करते देखे जाते हैं । जो इस प्रकार है —

> करकमलेन करोमि चरणमहमागमितासि विदूरम् ।[1]
> क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगतिशूरम् ।

२- शठ :-

गीतगोविन्द में कृष्ण कभी किसी अन्य सुनयना के साथ विहार कर राधा के प्रति अपने शठत्व का परिचय देते हैं ।

१- गीतगोविन्द - १२ । २३ । २

यथा —

> रमयति सुभृशं कामपि सुदृशं खलहलधर सोदरे ।
> किमफलमवसं चिरमिह विरसं वद सखि विटपोदरे ।।[१]

३- धृष्ट :—

गीतगोविन्द काव्य में वर्णित कभी-कभी अन्य नायिका के चरण-कमलों में लगे महावर से आर्द्र हृदयपटल से विभूषित होकर राधा के समक्ष आने की धृष्टता करते हैं । उदाहरण इस प्रकार है --

> चरणकमलगलदलक्तकसिक्तमिदं तव हृदयमुदारम् ।
> दर्शयतीव बहिर्मदनद्रुमनवकिसलयपरिवारम् ।।[२]

(ब) नायिका के विविध रूप :-

गीतगोविन्द में नायक के विविध रूप की भाँति नायिका के भी विविध रूप का निरूपण प्राप्त होता है । इस काव्य की नायिका राधा छिप-छिप कर अपने प्रिय कृष्ण से लोक और शास्त्र की आँखों से दूर 'रह: केलि' किया करती है । वह कभी मुग्धा बनकर प्रिय के समक्ष आने से झिझकती है, तो कभी मध्या बनकर रतिकेलि में समुचित भाग लेती दृष्टिगोचर होती है, तो कभी धीरा बनकर शठ या धृष्ट कृष्ण को तानें सुनाती है । इस प्रकार विविध प्रसंगों और परिस्थितियों की कल्पना कर राधा को कभी उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, स्वाधीनभर्तृका,

---

१- गीतगोविन्द - ७ । १५ । ७

२- गीतगोविन्द - ८ । १७ । ४

वासकसज्जा, अभिसारिका, आदि विविध प्रकार की नायिकाओं की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है । उदाहरणस्वरूप निरूपण इस प्रकार है --

१- उत्कण्ठिता :--

उत्कण्ठिता से आशय यह है कि निरपराध होते हुए भी प्रिय के देर करने पर उत्कण्ठित रहने वाली नायिका उत्कण्ठिता कहलाती है । गीतगोविन्द के द्वितीय सर्ग में उत्कण्ठिता नायिका वाला रूप इस प्रकार है --

> सखि हे केशिमथनमुदारं
> रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम् ।।[१]

अर्थात् हे सखि, केशी संहारक उदार कृष्ण से मेरा मिलन कराओ, मैं काम से पीड़ित हूं ।

२- अभिसारिका :--

अभिसारिका से आशय यह है कि जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं जाती है, अथवा नायक को अपने पास बुलाती है । गीतगोविन्द के एकादश सर्ग में अभिसारिका रूप वाली नायिका जिसकी परिणति राधा के लज्जा-त्याग में इस प्रकार द्रष्टव्य है --

> मुग्धे मधुमथनमनुगतमनुसर राधिके ।
> घनजघनस्तनभारभरे दरमन्थरचरणविहारम् ।
> मुखरितमणिमञ्जीरमुपैहि विधेहि मरालविकारम् ।
>
> x x x x x x x

१- गीतगोविन्द - २ । ६ । १

> अधिगतमखिलसखीभिरिदं तव वपुरपि रतिरणसज्जम् ।
> चण्डि ! रणितरशनारवडिण्डिममभिसर सरसमलज्जम् ।।[1]

३- कलहान्तरिता :—

गीतगोविन्द के नवम सर्ग में कलहान्तरिता रूप वाली नायिका का रूप वर्णित है । कलहान्तरिता रूप वाली नायिका से तात्पर्य यह है कि जो नायिका पति से झगड़ा करने के बाद अलग हो गयी हो । उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है -

> तामथ मन्मथखिन्नां रतिरसभिन्नां विषादसम्पन्नाम् ।
> अनुचिन्तितहरिचरितां कलहान्तरितामुवाच रहः सखी ।।[2]

४- विप्रलब्धा :—

गीतगोविन्द के सप्तम सर्ग में विप्रलब्धा रूप वाली नायिका का निरूपण वर्णित है । विप्रलब्धा रूप वाली नायिका से आशय यह है कि जब राधा कुंज में पहुंच कर कृष्ण को देख नहीं पाती तब नायक कृष्ण के द्वारा ठगी जाती है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है -

> कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम् ।
> मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम् ।
> यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवञ्चिता ।
> यत्कि कामपि कामिनीमभिसृतः किं वा कलाकेलिभि

१- गीतगोविन्द - ११ । २० । १, २, ३

२- गीतगोविन्द - ६ ।१

> वैशा बन्धुभिरन्धकारिणि वनोपान्ते किमुद्भ्राम्यति ।
> कान्त: क्लान्तमना मनागपि पथि प्रस्थातुमेवाक्षम: ।
> संकेतीकृतमञ्जुवञ्जुललताकुञ्जेऽपि यन्नागत: ॥[1]

५- स्वाधीनभर्तृका :—

गीतगोविन्द द्वादश सर्ग में स्वाधीनभर्तृका रूप वाली नायिका का रूप वर्णित है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है —

> रचय कुचयो: पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयो -
> र्घटय जघने काञ्चीमञ्च स्रजा कबरीभरम् ।
> कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुरा -
> विति निगदित: प्रीत: पीताम्बरोऽपि तथाकरोत् ॥[2]

६- खण्डिता :—

खण्डिता नायिका से तात्पर्य यह है कि जब वह नायक को दूसरी नायिका के सहवास से चिह्नित (चिह्नित) जान लेने पर ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है वह खण्डिता नायिका कहलाती है । गीत-गोविन्द के अष्टम सर्ग में धृष्ट नायक कृष्ण के परांगनोपभोग के चिह्नों को देखकर नायिका (राधा) ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

> रजनिजनितगुरुजागररागकषायितमलसनिमेषम् ।
> वहति नयनमनुरागमिव स्फुटमुदितरसाभिनिवेशम् ।

१- गीतगोविन्द - ७ । १३ । १

२- गीतगोविन्द - १२ । २४ । १

हरि हरि याहि माधव याहि केशव मा वद कैतववादम् ।
तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम् ।।
तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव
प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणच्छायहृदयम् ।
ममाद्य प्रख्यातप्रणयभरभङ्गेन कितव
त्वदालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति ।।[1]

७- वासकसज्जा :—

वासकसज्जा रूप नायिका से आशय यह है कि जब नायिका प्रिय के आगमन की आशा होने पर हर्ष के साथ अपने को सजाती है। उदाहरणस्वरूप षष्ठ सर्ग में वासकसज्जा रूप नायिका का निरूपण इस प्रकार है --

नाथ हरे जय नाथ हरे सीदति राधा वासगृहे ।। ध्रु० ।।
विहित विशदविसकिसलयवलया ।
जीवति परमिह तव रतिकलया ।। नाथ हरे० ।।
मुहुरवलोकितमण्डनलीला ।
मधुरिपुरहमिति भावनशीला ।।[2] नाथ हरे० ।।

हे कृष्ण, राधा आवासगृह में दुःख पा रही है । मृणाल के वलय धारण कर अलंकृत हुई वह तुम्हारे ध्यान में लीन है, और तुम्हारी (रतिकला) की आशा से जीवित है ।

८- प्रोषितभर्तृका :—

प्रोषितभर्तृका रूप वाली नायिका से आशय यह है कि जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूसरे दूर देश में स्थित होता है वह प्रोषितभर्तृका रूप नायिका कहलाती है । गीतगोविन्द इस रागकाव्य में प्रोषितभर्तृका का उल्लेख नहीं मिलता, क्योंकि नायक न तो नायिका से दूर है और न यात्रा पर अन्यत्र गया है ।

१- गीतगोविन्द - ८ । १७ ।१
२- गीतगोविन्द - ६ ।१२ । १, ३, ४

(घ) गीतगोविन्द में शृङ्गाररस तथा पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव --

गीतगोविन्द में शृङ्गारिक चित्रण अत्यन्त रमणीय है, इस प्रसंग में राधा-कृष्ण की केलिकथाएं और अभिसार लीलाएं गीतगोविन्द को रहस्यमय शृङ्गार का एक अनुपम रत्न बना देती है। आशा, निराशा, उत्कंठा, प्रणयजन्य ईर्ष्या, कोप, मिलन-प्रेम की विविध दशाओं का राधा और कृष्ण की प्रणय-कथा के माध्यम से सुन्दर क्रम हृदय का ही चित्रण हुआ है। अतः इन्हीं शृङ्गारिक वर्णनों का विवेचन इस प्रकार है। यथा -- संकेत स्थान पर राधा की बाट (जोहते) हुए कृष्ण के हृदय की उत्कंठा इन शब्दों में साकार हो उठी है एवं श्रीकृष्ण विरह में एकमात्र अवलम्ब वंशी में राधा का नाम स्मरण करते हैं। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

> नामसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदुवेणुम्।
> बहुमनुते ननु ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुम्॥[1]

इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के विरह में एकमात्र आधार एक दूसरे का नाम स्मरण मानते हैं। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

> हरिरिति हरिरिति जपति सकामम्।
> विरहविहितमरणेव निकामम्॥[2]

अतः यह प्राप्ति से एकाकारिता की ओर, एकाकारिता से नामाकारता की ओर जाने वाली यात्रा एक अत्यन्त स्पष्ट काव्यमय संकेत है। यह स्नेह कुछ

१- गीतगोविन्द - ५ । ११ । २

२- गीतगोविन्द - ४ । ६ । ७

दूसरे प्रकार के स्नेह का ज्वार है, दो दिन-रातों में ही इतना विस्तार पा सकता है कि देश और काल उसमें बुदबुद बन जाते हैं ।

इसी प्रकार शृंगारिक चित्रण के अन्य स्थल भी गीतगोविन्द में प्राप्त होते हैं । यथा -- गीतगोविन्द में राधा और कृष्ण की यमुना तटीय 'रहः केलि' का वर्णन प्रधान विषय है, इसका कथानक संवादात्मक है । इसमें वक्ता और श्रोता रूप में कृष्ण राधा और सखि हैं । राधा शृङ्गारपरायण होकर कृष्ण को वन-वन ढूंढ रही है, भाव यह है कि वह कृष्ण को पुनः पाने के लिये कितनी उत्कण्ठित है, इसे भी वह सखि से नहीं छिपा पाती है, 'पुनरपि मनो वामं कामं करोति करोमि किम्'[१], उधर कृष्ण को भी जब राधा का स्मरण आता है तो वे ब्रजसुन्दरियों को छोड़कर चले जाते हैं और यमुना के किनारे अवस्थित एक कुंज में जाकर चुपचाप विषण्णमन से लेट जाते हैं 'कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृङ्खलाम्', राधामाधाय हृदये तत्याज ब्रजसुन्दरीः'[२], और मन ही मन राधा से क्षमा मांगते हुए उससे दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं । 'क्षम्यतामपरं कदापि तवेदृशं न करोमि, देहि सुन्दरि दर्शनं मम मन्मथेन दुनोमि'[३], इसी बीच राधा के द्वारा भेजी गयी दूती कृष्ण से राधा की मनोदशा और उसकी विरहाकुलता का दो गीतों में चित्रण करती है, जो इस प्रकार है --

'सा विरहे तव दीना
माधव ! मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ।'[४]

१- गीतगोविन्द - २। ५ । १

२- गीतगोविन्द - ३। १

३- गीतगोविन्द - ३। ७ । ७

४- गीतगोविन्द - ४ । ८ ।१

अर्थात् हे माधव वह दु:ख से कातर है, भावना से तुम्हीं में लीन है, तथा मनसिज के बाणों के भय से वह छिप गयी है, अत: राधा का प्रेमोन्माद अत्यन्त करुण है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :--

'सा रोमाञ्चति सीत्कारोति विलपत्युत्कम्पते ताम्यति ।
ध्यायत्युद्भ्रमति प्रमीलति पतत्युद्याति मूर्च्छत्यपि ॥'[1]

राधा पुष्प-शय्या को अग्नि तुल्य देखकर सकाम भाव से कृष्ण-कृष्ण जप रही है, क्योंकि उन्हें विरह वेदना से मरण की आशंका हो गयी है। इधर कृष्ण भी उससे राधा को अपने पास ले आने के लिये कहते हैं, सखी लौटकर फिर राधा के पास आती है और उनसे कृष्ण की मनोदशा का चित्रण करके राधा को उनके पास जाने की सलाह देती है, राधा जाना तो चाहती है, किन्तु कुछ शालीनतावश, कुछ मानवश और कुछ विरहजन्य आकुलता के कारण जा नहीं पाती। सखि फिर कृष्ण के पास जाती है और एक गीत में राधा की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का चित्रण कर कृष्ण से कहती है। इसी बीच चन्द्रमा उदित होता है, कृष्ण अभी भी नहीं आये, राधा की उत्कंठा और विरह व्यथा बढ़ती (तीव्र) जाती है। सप्तम सर्ग के गीतों में वह अपनी वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति करती है। रजनी के व्यतीत हो जाने पर प्रात: कृष्ण प्रकट होते हैं, किन्तु इसी बीच राधा की व्यथा असूया और क्रोध में परिवर्तित हो चुकी होती है, कृष्ण को देखकर प्रसन्न होने के स्थान पर वह उनको खरी खोटी सुनाती है - 'हे भगवान ! अब समय मिला है, तुम्हें मेरे निकट आने का ? जाओ उसी के पास जिसके पास रहने से तुम्हारा दु:ख दूर होता हो। मुझे धूर्तता की बातें रुचिकर नहीं हैं। आशय यह है कि उन्हें उपालम्भ देती हुई कहती हैं कि 'मा वद कैतववादम् तामनुसर सरसीरुह-लोचन या तव हरति विषादम्'[2], अर्थात् तुम्हारी चिकनी चुपड़ी बातों के

१- गीतगोविन्द - ४ । ६ । १
२- गीतगोविन्द - ८ । १७ । १

भुलावे में मैं नहीं आने वाली हूं, ओठों पर लगा काजल , हृदय पर लाक्षारस के चिह्न, सम्पूर्ण शरीर पर नाखूनों के निशान, ये सब कुछ और ही कहानी कह रहे हैं। कृष्ण तुम बाहर से तो काले थे ही, किन्तु मुझे लगता है कि अब तुम शीघ्र ही अन्दर से भी पूर्ण रूप से काले हो जाओगे। क्यों मेरी जैसी विश्वस्त अनुरक्त और भोली भाली नारियों को ठगते फिरते हो ?

> बहिरिव मलिनतरं तव कृष्ण मनो पि भविष्यति नूनम् ।[1]
> कथमथ वञ्चयसे जनमनुगतमसमशरज्वरदूनम् ॥

इस प्रकार फटकार सुनकर लज्जित होकर कृष्ण वहां से चले जाते हैं। अब राधा की सखि राधा के संकोच, मान, और अपराध को प्रकट करने के लिये निम्न गीतों में उन्हें समझाती है -- 'प्रविश राधे ! माधवसमीपमिह'[2] और राधा को मान छोड़ने के लिये कहती है कि इतना मान करना उचित नहीं है - 'हरिरभिसरति वहति मधुपवने, किमपरमधिकसुखं सखि भवने, माधवे मा कुरु मानिनि मानमये'[3] तत्पश्चात राधा का मान दूर हो जाता है और वह कदम्ब कुंज में कान्त मिलन के लिये जाती है, तब कृष्ण स्वयं राधा को मनाते हैं - 'प्रिय चारुशीले मुञ्च मयि मानमनिदानम्'[4] एवं इसी सन्दर्भ में कृष्ण स्वयं राधा को मृदुवचनों में मनाते हैं तथा उनसे सिर पर

१- गीतगोविन्द - ८ । १७ । ६

२- गीतगोविन्द - ११। २१ ।१

३- गीतगोविन्द - ९ । १८ । १

४- गीतगोविन्द - १० । १९ । १

पैर तक रखने के लिये कहते हैं --

"स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं
देहि पदपल्लवमुदारम्".[1]

कृष्ण यह भी कहते हैं कि यदि मैं सापराध हूं तो सच्ची प्रेमिका की भांति मुझे सुस्निग्ध दण्ड दो जिससे सुख उपजे। "त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं, त्वमसि मम भवजलधिरत्नम्".[2]।

इस प्रकार यह अनुराग की पराकाष्ठा है, जिस कारण राधा का क्रोध तथा मान भी विलुप्त हो जाता है। राधा कृष्ण को मनाकर चले जाते हैं तथा कुंज में प्रवेश कर नवपल्लवों की शय्या की रचना करते हैं -- "किसलयशयनतले कुरु कामिनि चरणनलिनविनिवेशम्".[3], इधर राधा अभिसार की तैयारी करती है, सखियां उनके इस कार्य में सहायक होती हैं। तथा कृष्ण के सौन्दर्य, स्नेहपुरित स्वभाव एवं वैदग्ध आदि की प्रशंसा करके राधा को और उत्साहित तथा उद्वेलित करती है। एक सखि राधा को कृष्ण के कुंज द्वार तक ले जाती है, राधा वहाँ लज्जा से ठिठक जाती है और अन्दर पदनिक्षेप नहीं कर पाती। सखि पुन: प्रिय मिलन के सुख का वर्णन कर राधा को अन्दर जाने के लिये प्रेरित करती है तब राधा भय तथा हर्ष के मिले जुले भावों से नूपुर झनकाती हुई अन्दर प्रवेश करती है। उदाहरण स्वरूप

१- गीतगोविन्द - १०।१६।७

२- गीतगोविन्द - १०।१६।३

३- गीतगोविन्द - ११।२३।१

इस प्रकार है —

> सा ससाध्वससानन्दं गोविन्दे लोललोचना ।
> सिञ्जाना मञ्जुमञ्जीरं प्रविवेश निवेशनम् ॥[1]

इस प्रकार अन्त में राधा-कृष्ण रतिक्रीड़ा करते हैं और राधा प्रणयसिक्त वचनों में प्रियतम द्वारा ही अपना शृङ्गार कराने की इच्छा प्रकट करती है । श्रीकृष्ण प्राणप्रिया राधा का स्वयं अपने करकमलों से शृङ्गार करते हैं ।

इस प्रकार गीतगोविन्द काव्य में आलम्बन विभाव राधा और कृष्ण हैं, उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत यमुना तट, कोमल मलयसमीर, सरस वसन्त और मधुकरनिकरकरम्बित कोकिलकूजित कुटीर है । विप्रलम्भ और संयोग शृङ्गार के अनुभाव और सञ्चारी भाव भी इन्हीं के अनुकूल हैं । अत: ऐसी परिस्थिति में रसराज (शृङ्गार) का परिपोष अतिशय चमत्कारपूर्ण है । अधुना इस प्रसंग में यह निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है कि गीतगोविन्द के शृङ्गार-रस पर पूर्ववर्ती कवियों का क्या प्रभाव रहा है । अत: उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत रागकाव्य गीतगोविन्द के शृङ्गारिक चित्रण पर पूर्ववर्ती कवियों का भी प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है । नायिका के तल्पारोहण से लेकर सुरतविमर्दविगलित प्रसाधन के पुन: प्रसाधित करने तक के व्यापारों का वर्णन जयदेव ने बड़ी रुचि के साथ अंकित किया है । जिस पर अमरुक जैसे पूर्ववर्ती शृङ्गारिक कवि का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है :--

> त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं ।
> लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ॥

1- गीतगोविन्द - १२। २१ । २

शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो ।[1]
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥

सखि सखि से कह रही है कि अयि मुग्धाक्षि ! तुम इस कञ्चुकिका के बिना मनोहर छवि धारण करती हो, यह कहते हुए ज्यों ही प्रिय ने कञ्चुकी की ग्रन्थि का स्पर्श किया त्यों ही शय्या के छोर पर बैठी हुई नायिका की आंखों में भरे हर्ष से आनन्दित सखी वर्ग धीरे से झूठे बहाने बनाकर खिसक गया । यहाँ नायिका मध्या स्वाधीनपतिका और नायक अनुकूल है ।

अमरूक के इस श्लोक का उत्तरार्ध जयदेव के निम्नलिखित श्लोक के पूर्वार्द्ध में व्याप्त है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

'भजन्त्यास्तल्पान्तं कृतकपटकण्डूतिपिहित-
स्मिते याते गेहाद्बहिरवहितालीपरिजने ।
प्रियास्यं पश्यन्त्याः स्मरशरवशाकूतसुभगं
सलज्जाया लज्जा व्यगमदिव दूरं मृगदृशः ॥[2]

अर्थात् खुजलाहट से अपनी मुस्कान को छिपायी हुई, शयन के एक ओर बैठी प्रेयसी की सावधान सखियां एवं परिजन घर से बाहर निकल गये, तब कामवश प्रिय के मुख को साभिप्राय देखती हुई उस मृगनयनी की लज्जा मानो लजा कर दूर खिसक गयी हो । इसका उत्तरार्ध अमरूक के एक दूसरे श्लोक से प्रभावित प्रतीत होता है । उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है --

सुप्तोऽयं सखि सुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरं
प्रेमावेशितया मया सरलया न्यस्तं मुखं तन्मुखे ।

१- अमरूकशतक - श्लोक २७, पृ० सं० ४५ ।

२- गीतगोविन्द - ११। २२ । २

आलेऽलीकनिमीलने नयनयोर्धूर्तस्य रोमाञ्चतो
लज्जासीन्मम तेन साम्प्रतमहो तत्कालयोग्यः क्रमः ।[1]

अर्थात् हे सखि यह सो गया है, तू भी सो जा, यह कहकर जब सब सखियां चली गयीं तब मैंने प्रेम के आवेश में अपना मुख सीधे स्वभाव प्रिय के मुख पर रख दिया, किन्तु इस धूर्त के रोमाञ्च से उसके झूठे ही नयन मूंद लेने का रहस्य खुल गया तब मुझे लज्जा आ गयी ।

इसी प्रकार जयदेव ने सुरतानन्द को महत्त्व प्रदान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि —

ईषन्मीलितदृष्टिमुग्धहसितं सीत्कारधारावशा-
दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौताधरम् ।
श्वासोत्कम्पितपयोधरोपरि परिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो
हर्षोत्कर्षविमुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ।।[2]

अर्थात् वही पुरुष धन्य है जो गाढ़ आलिङ्गन के कारण शान्त एवं स्तब्ध पयोधर वाली, तथा हर्ष के आधिक्य से शिथिल शरीर वाली मृगनयनी के ईषत् निमीलित नेत्रों और आकुल केलियों के कारण फैलती हुई दन्तकान्ति से अलंकृत अधरवाले मुख का पान करता है ।

भर्तृहरि के शृङ्गारशतक में भी इसी प्रकार का वर्णन है । यथा-

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।।

१- अमरुकशतक - ३७ श्लोक, पृ० सं० ६० ।

२- गीतगोविन्द - १२ । २३ । ७

शय्येऽलीकनिमीलने नयनयोर्धूर्तस्य रोमाञ्चतो
लज्जासीन्मम तेन साप्यपहृता तत्कालयोग्यै: क्रमै: ।[1]

अर्थात् हे सखि यह सो गया है, तू भी सो जा, यह कहकर जब सब सखियां चली गयी तब मैंने प्रेम के आवेश में अपना मुख सीधे स्वभाव प्रिय के मुख पर रख दिया, किन्तु इस धूर्त के रोमाञ्च से उसके झूठे ही नयन मूंद लेने का रहस्य खुल गया तब मुझे लज्जा आ गयी ।

इसी प्रकार जयदेव ने सुरतानन्द को महत्व प्रदान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि —

ईषन्मीलितदृष्टिमुग्धहसितं सीत्कारधारावशा-
दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौताधरम् ।
श्वासोत्कम्पितपयोधरोपरि परिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो
हर्षोत्कर्षविमुक्तानि: सहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ।।[2]

अर्थात् वही पुरुष धन्य है जो गाढ़ आलिङ्गन के कारण शान्त एवं स्तब्ध पयोधर वाली, तथा हर्ष के आधिक्य से शिथिल शरीर वाली मृगनयनी के ईषत् निमीलित नेत्रों और आकुल केलियों के कारण फैलती हुई दन्तकान्ति से अलंकृत अधरवाले मुख का पान करता है ।

भर्तृहरि के शृङ्गारशतक में भी इसी प्रकार का वर्णन है । यथा-

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।।

1- अमरुकशतक - ३७ श्लोक, पृ० सं० ६० ।

2- गीतगोविन्द - १२ । २३ । ७

सुरतवनितखेदस्वादुगण्डस्थलीना ।
मधुरमधु वधूनां भाग्यवन्त: पिबन्ति ।।[1]

अर्थात वक्षस्थल पर लेटी हुई और सुगन्धित केश उनके बिखरे हुए हैं, आधे नेत्र मुंदे हुए हैं, कुछ कुछ हिल रही है, मैथुन के श्रम से उनके गालों पर पसीने झलक रहे हैं, ऐसी स्त्रियों के अधरमधु को भाग्यवान ही पुरुष पान करते हैं ।

इसी शृंगारिक चित्रण के प्रसंग में जयदेव ने चुम्बन चतुर नायिका का अति सुन्दर चित्रण किया है जो इस प्रकार है —

कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले ।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ।।[2]

अमरुक का नायक भी इसी प्रकार का है, जिसकी शिकायत नायिका अपनी सखि से कर रही है । जो निम्न प्रकार है --

अहं तेनाहूता किमपि कथयामीति विजने ।
समीपे चासीना सरसहृदयवादवहिता ।।
तत: कर्णोपान्ते किमपि वदताघ्राय वदनं ।
गृहीता धम्मिल्ले सखि । स च मया गाढमधरे ।।[3]

आशय यह है कि मुझे तुमसे एकान्त में कुछ कहना है यह कहकर प्रिय ने मुझे अपने पास बुलाया और मैं बड़े ध्यान के साथ उनके समीप बैठकर सुनने लगी, तब

१- शृङ्गारशतक - २६ श्लोक, पृ० सं० १०७ ।

२- गीतगोविन्द - १ । ४ । ४

३- अमरुकशतक - ९८ श्लोक, पृ० सं० १२२ ।

कान के समीप कुछ कहते हुए उन्होंने मेरा मुख चूम लिया और केश पकड़ लिया, तब मैंने भी कसकर उनका अधर पकड़ लिया। यहां सम्भोग शृङ्गाररस है।

जयदेव ने विपरीत रति का भी स्पष्ट वर्णन किया है। जो निम्न प्रकार है :--

> उरसि मुरारेरुपहितहारे घन इव तरलबलाके।
> तडिदिव पीते रतिविपरीते राजसि सुकृतविपाके ॥[१]

अर्थात् हे पुण्यशालिनि। चंचल बकपंक्ति से युक्त मेघ के सदृश मुक्ताहार से शोभित कृष्ण के वक्षस्थल पर विपरीत सुरत के समय तुम विद्युत के समान शोभा पाती हो।

जयदेव को संयोगशृङ्गार के चुम्बन, नख स्पर्शादि बाह्य सुरत ही नहीं वास्तविक सुरत तक के वर्णन में दिलचस्पी थी। यथा --

> स्मरसमरोचितविरचितवेशा
>
> गलितकुसुमदलविलुलितकेशा।
>
> कापि चपला मधुरिपुणा विलसति युवतिराधिकगुणा ॥
>
> हरिपरिरम्भणवलितविकारा।
>
> कुचकलशोपरि तरलितहारा ॥
>
> विचलदलकललिताननचन्द्रा।
>
> तदधरपानरभसकृततन्द्रा ॥
>
> चञ्चलकुण्डलदलितकपोला।
>
> मुखरितरशनजघनगतिलोला ॥

१- गीतगोविन्द - ५।११।५

दयितविलोकितलज्जितहसिता ।
बहुविधकूजितरतिरसरसिता ।।
विपुलपुलकपृथुवेपथुभङ्गा ।
श्वसितनिमीलितविकसदनङ्गा ।।
श्रमजलकणभरसुभगशरीरा ।
परिपतितोरसि रतिरणधीरा ।।[१]

अर्थात् कोई उत्तमगुणशालिनी युवति स्मर समय के योग्य वेष धारण कर मधुरिपु के साथ विलास कर रही है । उसका केशपाश शिथिल हो गया है, उसमें गुंथे हुए पुष्प गिर गये हैं । हरि के आलिङ्गन से उसका काम विकार अत्यधिक उद्दीप्त हो गया है । कुच रूपी कलशों पर पड़ा हुआ हार चंचल हो उठा, अलकों के खिसक जाने से उसका मुखचन्द्र अत्यधिक सुशोभित हो रहा था, और वह प्रिय के अधर मधु के मद में लीन-सी होती जा रही थी । चंचल कुण्डलों के रगड़ से उसके कपोल घिसे जा रहे थे, प्रिय दृष्टि मिलने पर वह लजाती हुई मुस्करा देती थी, इस प्रकार वह सुरत-जन्य विविध प्रकार की रसितों (ध्वनियों) से मुखरित है । उसका शरीर रोमांचित और काम से युक्त है । सांस फूल रही है, आंखे मुंदी जा रही है, काम तीव्र गति से बढ़ रहा है, शरीर पसीने की बूंदों से लथपथ हो गया है, इस प्रकार रति रण में डटकर सामना करने वाली वह युवती प्रिय के उर (वक्षस्थल) पर गिर पड़ी ।

इसी प्रकार गीतगोविन्द का एक दूसरा उदाहरण सुरत-समर का गत्यात्मक सौन्दर्य प्रस्तुत करता है, जो इस प्रकार है —

दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै -
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः

१- गीतगोविन्द - ७ । १४।१,२,३,४, ५, ६, ७

हस्तेनानमित: कचेऽधरमधुस्यन्देन सम्मोहित:
कान्त: कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गति: ।।[1]

आशय यह है कि इसमें काम की वामगति का वर्णन है, प्रिय ने अद्भुत तृप्ति का अनुभव किया है, इसके अतिरिक्त जयदेव ने एक और उदाहरण में प्रेम का विलासमय एवं शृङ्गारी आदर्श प्रस्तुत किया है । यथा :—

आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्तजात्
प्रोद्बोधादनु सम्भ्रमादनु रतारम्भादनु प्रीतयो: ।
अन्यार्थं गतयोर्भ्रमान्मिलितयो: सम्भाषणैर्जानतो -
र्दम्पत्योर्निशि को न को न तमसि व्रीडाविमिश्रो रस: ।।[2]

अर्थात अन्य नायिका तथा नायक के समागम के प्रयोजन से पृथक्-पृथक् गए हुए पति-पत्नी अन्धकार में भ्रमवश एक दूसरे को वही समझते हुए, तात्पर्य यह है कि जिसके लिये गये थे संयोग से मिल गये तथा क्रमश: आश्लेष, चुम्बन,नखोल्लेख, कामोद्दीपन और सुखारम्भ से प्रसन्न होते हुए जब वार्तालाप से एक दूसरे को पहिचाने तब उनका सुख अकल्पनीय व्रीडा से पूर्ण था ।

इस प्रकार जयदेव ने रति केलियों और सुरत समर के वर्णनों के बहुत से चित्र गीतगोविन्द की शृंगारिकता का दिग्दर्शन कराने के लिये प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

इस प्रकार गीतगोविन्द के संयोगपक्ष पर पूर्ववर्ती कवियों का अतिशय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकार वियोग पक्ष पर भी पूर्ववर्ती

१- गीतगोविन्द - १२ । २३ । २

२- गीतगोविन्द - ५ । ११ । ३

कवियों का पर्याप्त प्रभाव हुआ है, विवेचन इस प्रकार है ।

मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ ने मेघदूत की टीका में वियोगियों के लिये वियोगावस्था में चार प्रकार के मनोविनोद स्थानों का उल्लेख किया है । प्रियसदृश वस्तु का दर्शन, प्रिय के चित्र का दर्शन, स्वप्नगत प्रिय का दर्शन और प्रिय द्वारा स्पृष्ट पदार्थों का स्पर्श । गीतगोविन्द में उपर्युक्त इन सभी का समावेश हुआ है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है —

> विलखति रहसि कुरङ्गमदेन भवन्तमसमशरभूतम् ।
> प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवचूतम् ।।[1]

आशय यह है कि कवि ने अपनी प्रतिभा के उन्मेष से प्रियसदृशवस्तु एवं प्रिय के चित्र दोनों को मिलाकर एक कर दिया है । कामदेव राधा के प्रियतम कृष्ण के ही समान हैं, अत: वह कृष्ण का चित्र कामदेव के रूप में चित्रित करके दर्शन और प्रणाम करती है ।

इसी प्रकार गीतगोविन्द के विरह गीत में राधा और कृष्ण को सामने सामने लाने का अनुभव दुहराया गया है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

> दृश्यसे पुरतो गतागतमेव मे विदधासि ।
> किं पुरेव ससम्भ्रमं परिरम्भणं न ददासि ।।[2]

अर्थात् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम मेरी आँखों के समक्ष घूम रही हो, फिर भी आवेगपूर्वक तुम अपनी बाहों में नहीं भरती हो ।

इसी प्रकार विरहावस्था में राधा को भी नींद नहीं आ रही है,

१- गीतगोविन्द - ४ । ८ । ५
२- गीतगोविन्द - ३ । ७ । ६

वह विरह की स्थिति में श्रीकृष्ण को अपने सामने परिकल्पित कर देती है और इस परिकल्पित उपस्थिति में बिलखती है, हंसती है, झनझनाती है, रोती है, गाती है, और गरम सांस लेती है। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है —

> ध्यानलयेन पुर: परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्।
> विलपति हसति विषीदति रोदति चञ्चति मुञ्चति तापम्[१]।।

इसी प्रसंग में एक उदाहरण और है, जिसमें यह प्रस्तुत किया गया है कि वह कृष्ण-राधा के अंग का स्पर्श करने वाले पवन से उड़ायी हुई धूल को पाकर कृत-कृत्य से हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप —

> 'बहुमनुते ननु ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुम्।'[२]

जयदेव के पूर्ववर्ती कवि महाकवि कालिदास ने मेघदूत में यक्ष की भी यही दशा वर्णित की है। उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है —

> भित्वा सद्य: किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां।
> ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ता:।।
> आलिङ्गयन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाता:।
> पूर्वस्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति[३]।।

आशय यह है कि देवदारु के पेड़ों के पल्लवों के सम्पुट को तुरन्त खोलकर उनके द्रव के बह उठने के कारण सुगन्धित हो उठीं जो हिमालय की हवाएं दक्षिण की ओर चल पड़ती है, उनको मैं, हे गुणशालिनी। इसलिये आलिङ्गन कर लिया करता हूं कि इनसे शायद तुम्हारा अङ्ग पहले छू गया हो।

इस प्रकार देखते हैं कि गीतगोविन्द के शृङ्गारिक चित्रण पर पूर्ववर्ती कवियों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

१- गीतगोविन्द - ४।८।७

२- गीतगोविन्द - ५।११।२

३- मेघदूत (उत्तरमेघ) श्लोक ४४, पृ० सं० २५६।

(ख०) गीतगोविन्द का काव्यपक्ष —

(क) प्रकृति-चित्रण :—

गीतगोविन्द रागकाव्य में प्रकृति वर्णन को शृङ्गाररस के उद्दीपन विभाव के रूप में पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। इस काव्य में जयदेव ने शृङ्गार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों पक्षों की विविध अवान्तरदशाओं और व्यापारों का चित्रण किया है। प्रस्तुत गीतगोविन्द रागकाव्य का आरम्भ वसन्त ऋतु के वर्णन से हुआ है। यथा —

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ॥[1]

अर्थात मलय समीर, ललितलवंग लताओं को धीरे-धीरे आन्दोलित कर रहा है, भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं, और कोकिलों के कूंकने से कुञ्ज की कुटियां प्रतिध्वनित हो रही है।

आशय यह है कि गीतगोविन्द का प्रारम्भ वसन्त वर्णन से हुआ है, जिसे भारतीय कवि समुदाय संयोगियों के लिये वरदान और वियोगियों के लिये अभिशाप के रूप में चित्रित करते हैं, एक ओर वासन्ती कुसुम सुकुमारा राधा कन्दर्प ज्वर जनित चिन्ता से आकुल है, तथा दूसरी ओर ललितलवङ्ग-लताओं का स्पर्श करने वाले मन्दमलय समीर से युक्त तथा मधुकर निकर एवं कोकिल कूजित कुटीर में कृष्ण का ब्रज-युवतियों के साथ विहार चल रहा है। इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि कृष्ण के लिये यह वसन्त सचमुच सरस है। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है —

"विहरति हरिरिह सरसवसन्ते"[2]

१- गीतगोविन्द - १ । ३ । १

२- गीतगोविन्द - १ । ३ । १

किन्तु यही वसन्त विरही जन के लिये दुरन्त है —

"नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।"[१]

आशय यह है कि विरहीजनों की दुरन्तता का कारण है कि केवड़े की गन्ध वाला वायु, ईषद् विकसित मल्लिका के पराग रूपी पटवास से वनों को सुवासित करता हुआ हृदय को जलाया करता है तथा प्रवासी लोग मधु गन्ध के लोभी भौंरों से हिलाई गयी आम्रमञ्जरी पर क्रीड़ा करती हुई कोयलों की काकली से कर्ण ज्वर उत्पन्न करने वाले दिनों को प्रियतमा के ध्यानगम्य समागम के रस से जैसे तैसे बिताते हैं । यथा —

दरविदलितमल्लीवल्लिचञ्चत्पराग -
प्रकटितपटवासैर्वासयन्काननानि ।
इह हि दहति चेतः केतकीगन्धबन्धुः
प्रसरदसमबाणप्राणवद्गन्धवाहः ॥[२]

तथा -

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर -
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥[३]

इसी सन्दर्भ में वसन्त का प्रभाव भी पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है जो इस

१- गीतगोविन्द -१।३ ।१

२- गीतगोविन्द - १ । ३ । १

३- गीतगोविन्द - १। ३। २

प्रकार है —

इस बसन्त ऋतु का इतना प्रभाव है कि माधवी एवं मल्लिका के परिमल से ललित बसन्त मुनियों के मन पर भी मोहिनी डाल देता है। यथा :--

माधविकापरिमलललिते नवमालिकयातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ।।[1]

इसी प्रकार इसी बसन्त का ऐसा प्रभाव है कि मुग्धवधुएं भी प्रौढ़ा समान रमण करती हैं, यथा —

हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ।।ध्रु ।।
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम् ।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम् । हरिरिह०।।
कापि विलासविलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम् ।
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदनवदनसरोजम् । हरिरिह०।।
कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले ।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ।। हरिरिह ।।[2]

इस प्रकार गीतगोविन्द रागकाव्य का बसन्त वर्णन संयोग शृङ्गार की क्रीड़ाओं के चित्रण की पृष्ठभूमि है। इसके अतिरिक्त बसन्त वर्णन ही नहीं, अपितु जयदेव का सम्पूर्ण प्रकृति चित्रण शृङ्गार के उद्दीपन विभाव के माध्यम से ही चित्रित हुआ है। यथा - गीतगोविन्द के एकादश सर्ग के २१ वें प्रबन्ध में अभिसारिका राधा को संकेत कुंज में प्रविष्ट होने के लिये प्रेरित करती हुई

१- गीतगोविन्द - १। ३ । ६

२- गीतगोविन्द - १।४।१, २, ३, ४

सखी के द्वारा कुञ्ज का वर्णन दर्शनीय है।[1] उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने
विलस रतिरभसहसितवदने
प्रविश राधे। माधवसमीपमिह ।। ध्रु० ।।
नवभवदशोकदलशयनसारे ।
विलस कुचकलशतरलहारे ।। प्रविश० ।।
कुसुमचयरचितशुचिवासगेहे
विलस कुसुमसुकुमारदेहे ।। प्रविश० ।।
चलमलयपवनसुरभि शीते
विलस रसवलितललितगीते ।।
विततबहुवल्लिनवपल्लवघने
विलस चिरमिलितपीनजघने ।। प्रविश० ।।
मधुमुदितमधुपकुलकलितरावे
विलस मदनरससरसभावे ।। प्रविश० ।।
मधुरतरपिकनिकरनिनदमुखरे
विलस दशनरुचिरुचिरशिखरे ।। प्रविश ।।

अर्थात रति के वेग से सस्मित मुख वाली, सुन्दर कुञ्जों के केलिगृह में विलास कर। काम के शरों से भयभीत, कोमल मंद और चपल मलयपवन से सुगन्धित एवं शीतल कुञ्जगृह में आनन्द भोग कर। चलसित और पुष्ट जंघाओं वाली फैली हुई अनेकानेक लताओं के किसलयों से सघन केलिकुञ्ज में विलास कर आदि।

इस प्रकार गीतगोविन्द काव्य में प्रकृति का यह चित्रण नायक-नायिका की उद्दाम शृङ्गार-क्रीड़ाओं की भूमिका मात्र है। इस प्रकार जयदेव के गीतगोविन्द काव्य में चित्रित प्रकृति चित्रण अवलोकनीय है।

१- गीतगोविन्द - ११। २१।१,२,३,४,५, ६, ७।

(ब) अलंकार-योजना - अनुप्रासगत वैशिष्ट्य :—

जयदेव के गीतगोविन्द काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष तथा अनुप्रास आदि अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि इनके द्वारा प्रयुक्त शब्दालंकारों के प्रयोग में कलात्मकता एवं भावव्यञ्जना का अद्भुत समन्वय परिलक्षित होता है। यथा — उत्प्रेक्षा तथा श्लेष के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

> वहति च वलित विलोचनजलधरमाननकमलमुदारम् ।[1]
> विधुमिव निकटविधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम् ।।

इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है। आशय यह है कि राधा के दोनों नेत्रों से आंसुओं की धारा झर रही है, ऐसा प्रतीत होता है कि विकट राहु के दांतों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत की धारा बह रही हो। इसी प्रकार श्लेष का उदाहरण इस प्रकार है --

> दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुमत्यान्वितं
> गतिर्जनमनोरमा विधुतरम्भमूरुद्वयम् ।
> रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा -
> वहो विबुध यौवनं वहसि तन्वि ! पृथ्वीगता ।।[2]

इसमें श्लेष अलंकार का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार जयदेव उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि अलंकारों के प्रयोग में तो सिद्धहस्त थे किन्तु इनकी अनुप्रास-योजना इस काव्य को और अधिक उत्कृष्ट बना देती है। यही कारण है कि प्रस्तुत गीतगोविन्द रागकाव्य में

१- गीतगोविन्द - ४।८।४

२- गीतगोविन्द - १०।११।६।

अनुप्रास अलंकार का प्रचुर मात्रा में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । अत: उनका अनुप्रासगत वैशिष्ट्य इस प्रकार है ।

महाकवि जयदेव अनुप्रास के प्रयोग में अद्वितीय हैं । इनकी अनुप्रास योजना काव्य में रसोद्रेक उत्पन्न करने में समर्थ दृष्टिगोचर होती है । महाकवि श्रीहर्ष का नैषध महाकाव्य भी अनुप्रास योजना के लिये प्रसिद्ध है, ठीक यही विशेषता जयदेव के काव्य में भी प्राप्त होती है ।

पीयूषवर्षी जयदेव ने कथावस्तु का आरम्भ जिस अनुप्रासमयी, मनोरम, कोमलशब्दावली में किया है, वह कर्णों का रसायन है । यथा --

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।।[1]

इस प्रकार जयदेव के काव्य में अनुप्रास के और उदाहरण हैं, जो कि इस प्रकार हैं । यथा --

अमलकमलदललोचन भवमोचन ए ।[2]

इस प्रकार जयदेव का सम्पूर्ण गीतगोविन्द इसी प्रकार की और इससे भी मनोरम, कोमल एवं कान्तशब्दावली से भरा हुआ है । अत: जयदेव के काव्य में आन्तरिक अनुप्रास की यह छटा दर्शनीय और श्रवणीय है । यथा --

पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम् ।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम् ।।गी० ।।

१- गीतगोविन्द - १। ३ । १

२- गीतगोविन्द - १। २ । ५

मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं रिपुमिव केलिषु लोलम् ।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलय नीलनिचोलम् ।। धी०।।[1]

इसी सन्दर्भ में माघ के विषय में कहा गया है कि उन्होंने अपने शिशुपालवध महाकाव्य के प्रथम नौ सर्गों में संस्कृत शब्दों का सम्पूर्ण कोश खाली कर दिया है और कहा भी गया है कि 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते ।' किन्तु वे ऐसे शब्द हैं, जो कि प्रचलित नहीं हैं, जिनका अर्थ समझने के लिये पुन: कोश देखना पड़ेगा । इसके विपरीत सम्पूर्ण गीतगोविन्द पढ़ जाने पर शायद ही कोई अपरिचित शब्द मिले । इस प्रकार सामान्य-भाषा के प्रचलित शब्दों द्वारा अत्यन्त सरल एवं लालित्यपूर्ण भाषा में इस कोमलकान्तपदावली की सृष्टि कर लेना अत्यन्त लम्बी शब्द-साधना के अनन्तर ही सम्भव हो सकता है ।

(स) भाषा-शैली :—

जयदेव के गीतगोविन्द के गीतों में सौन्दर्य और माधुर्य की पराकाष्ठा है तथा उनमें कोमलकान्तपदावली का सरस प्रवाह और मधुर भावों का मधुमय सन्निवेश है । जयदेव के गीतों में सरसता भावुकता और हृदयग्राहिता वर्तमान है । इस प्रकार उनके गीतों में पदलालित्य, हृदय की सहज अनुभूति, संगीतमयता, ध्वनिसौन्दर्य, भावों की विविधता एवं सुकुमारता प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है । जयदेव के काव्य में समास बहुला शैली का अनुसरण होने पर भी दुरूहता नहीं आने पायी है । जयदेव को भावपूर्ण मनोरम शब्दों द्वारा विविध दृश्यों के सजीव चित्र अंकित करने में अद्भुत सफलता मिली है ।

इस प्रकार यह कहा जा चुका है कि जयदेव सरलता और सरसता के मंजुल सामञ्जस्य के अनुपम परिचायक हैं । उदाहरण स्वरूप उनके रमणीयतम

१- गीतगोविन्द - ५।११।३,४

भाव मृदु पदावली में परिवेष्टित है, और स्वर व्यञ्जनों के सादृश्य द्वारा गीतों में संगीतोचित भाव की व्यञ्जना के साथ ही माधुर्य की अनुपम सृष्टि भी करते हैं। यथा --

> रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवामभ्रुवा -
> मभ्यर्णं परिरभ्य निर्भरमुर: प्रेमान्धया राधया ।
> साधु त्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति-
> व्याजादुद्भटचुम्बित: स्मितमनोहारी हरि: पातु व: ॥[१]

इसी प्रकार जयदेव की काव्य-रचना लौकिकानन्दोल्लास परा युवती की भांति है, जैसा कि स्वयं कवि ने कहा है कि --

> हरिचरणशरणजयदेवकविभारती
> वसतु हृदि युवतिरिव कोमलकलावती ॥ यामि० ॥[२]

तात्पर्य यह है कि कवि की सहृदयता मधुमक्षिका के सदृश विभिन्न भावपुष्पों से रस संचित कर अपने में निहित माधुर्य से उसे अभिनव सौष्ठव प्रदान कर देती है।

इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि गीतगोविन्द काव्य में भावों का सौष्ठव अत्यन्त हृदयावर्जक है। उदाहरणस्वरूप विरहिणी राधिका के वर्णन में कवि की यह उक्ति अनूठी है। राधा के दोनों नेत्रों से आंसुओं की धारा फर रही है, ऐसा प्रतीत होता है कि विकट राहु के दांतों के गड़ जाने से

१- गीतगोविन्द - १।४।३

२- गीतगोविन्द - ७।१३।८

से चन्द्रमा से अमृत की धारा बह रही हो । यथा --

> वहति च चलितविलोचनजलधरमाननकमलमुदारम् ।
> विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम् ।।[१]

आशय यह है कि कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की उड़ान में यह काव्य अनूठा ही है, परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है प्रेम की उदात्त भावना । राधा-कृष्ण के प्रेम की निर्मलता तथा आध्यात्मिकता सुन्दर शब्दों में यहां अभिव्यक्त की गयी है । शृङ्गार शिरोमणि कृष्ण भगवत्तत्त्व के प्रतिनिधि हैं और उनकी प्रेमी गोपिकाएं जीव का प्रतीक हैं । राधा-कृष्ण का मिलन जीव ब्रह्म का मिलन है, इस प्रकार साधना मार्ग के अनेक तथ्यों का रहस्य यहां सुलझाया गया है । इसी प्रकार अर्थ की माधुरी के लिये इस पद का पर्यालोचन पर्याप्त होगा । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

> दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुमत्यान्वितं
> गतिर्जनमनोरमा विधुतरम्भमूरुद्वयम् ।
> रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा-
> वहो विबुधयौवनं वहसि तन्वि । पृथ्वीगता ।।[२]

प्रस्तुत श्लोक में श्लेष के माध्यम से राधा का रसमय वर्णन है । आशय यह है कि तुम्हारे नेत्र मद से अलस-आलसी हैं (पक्षान्तर में मदालसा नामक अप्सरा है), तुम्हारा मुख चन्द्रमा को दीप्त करने वाला है (पक्षान्तर इन्दुमती अप्सरा), गति जनों के मन को रमण करने वाली है (पक्षान्तर-मनोरमा

१- गीतगोविन्द - ४। ८। ४

२- गीतगोविन्द - १०। १६ । ६

अप्सरा), तुम्हारी दोनों उरुओं ने रम्भा (केला तथा रम्भा नामक विख्यात अप्सरा) को जीत लिया है। तुम्हारी रति कला से युक्त है (कलावती अप्सरा)। तुम्हारी दोनों भौंहें सुन्दर चित्र के समान सुन्दर हैं (पक्षान्तर चित्रलेखा अप्सरा)। हे तन्वी, पृथ्वी पर रहकर भी तुम देव युवतियों के समूह को अपने शरीर में धारण करती हो।

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में श्लेष के माहात्म्य से देवाङ्गनाओं के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं।

शब्दमाधुर्य के लिये जयदेव ने "ललितलवङ्गलतापरिशीलन-कोमल मलयसमीरे"[1] वाली अष्टपदी का ललित प्रयोग किया है।

अतएव इन्हीं सम्पूर्ण विशेषताओं के कारण जयदेव के काव्य में कोमलकान्त-पदावली का सरस प्रभाव तथा मधुर भावों का मधुमय सन्निवेश है। यही कारण है कि सदियां बीत जाने पर भी गीतगोविन्दकार की कोमलकान्त-पदावली काव्य प्रेमियों को स्पंदित करती जा रही है। इसी संगीत में समस्त कोमलकान्त पदावली भी है। उदाहरणस्वरूप एक उदाहरण में कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं, इस प्रकार जो उसका अर्थ नहीं भी समझता उसे भी शब्दों का ध्वनि सौन्दर्य भाव विभोर कर देगा। यथा --

> चन्दनचर्चितनीलकलेवर पीतवसनवनमाली।
> केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली।।
> पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्।
> गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम्।। हरिरिह०।।[2]

१- गीतगोविन्द - १। ३। १

२- गीतगोविन्द - १। ४। १

इसी प्रकार जयदेव ने अपने काव्य में मधुर और कोमल भाषा का अनुशीलन किया है जो इस प्रकार है --

> यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
> यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
> मधुर कोमलकान्तपदावलीं
> शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।।[१]

आशय यह है कि हरि स्मरण कलाओं का संवाद और मधुरकोमलकान्त पदावली ये तीनों जयदेव की रचना में प्राप्य हैं । इस श्लोक का पूर्वार्ध गीतगोविन्द के भावपक्ष का परिचय देता है, और उत्तरार्ध कलापक्ष की ओर संकेत करता है । हरिस्मरण और विलास कलाओं का इसमें एकत्र समन्वय है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भक्ति और शृङ्गार की क्रमागत वर्णन परम्पराओं का जयदेव ने जानबूझकर गठबन्धन किया है । इस प्रकार अपने मानस में वे भगवल्लीला गान की सरसता के साथ विलास कलाओं का कुतूहल भी देखना चाहते थे । यह दोनों ही भाव उनके काव्य में गंगा यमुना की भाँति मिल गये हैं । जिसमें संगीत पोषित कोमलकान्त पदावली की सरसता भी आ मिली है — "शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्" में कवि ने अपनी वाणी की श्रवणीयता की ओर इंगित किया है, इस प्रकार वाणी की यह श्रवणीयता उसके द्वारा भक्ति और शृङ्गार की एकत्र समाहिति के कारण ही नहीं अपितु मधुर कोमल-पदविन्यासिनी कामिनी के नूपुरों के रुनझुन सदृश नाद-सौन्दर्य के कारण भी है । इस प्रकार उसकी कलात्मक रमणीयता भी उतनी ही महत्वपूर्ण है ।

इसी प्रकार जयदेव के अपने एक और उदाहरण मे सुमधुर कोमल-कान्त पदावली का विन्यास दृष्टिगोचर होता है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार

१- गीतगोविन्द - १। ३ ।

श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम् ।
पश्यति सस्मितचारुपरामपरामनुगच्छति वामाम् ।।[1]

मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं रिपुमिव केलिषु लोलम् ।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलय नीलनिचोलम् ।।[1]

इस प्रकार देखते हैं कि प्रस्तुत रागकाव्य में भावपक्ष की अपेक्षा कलागत सौन्दर्य की अत्यन्त समृद्धि हुई है । इसी कलापक्ष की समृद्धि के कारण गीतगोविन्द में कहीं भी भावों की क्षति नहीं पहुंचती है । गीतगोविन्द काव्य जिसे रागकाव्य नाम दिया है, उसकी सम्पूर्ण विशेषतायें इस काव्य में प्राप्त होती है । संगीतमयता, भावों की सहज व्यन्जना, नाद सौन्दर्य, पदलालित्य,आदि इसमें प्रचुर मात्रा में वर्तमान है । तथा गीतगोविन्द के पद विविध राग-रागनियों में निबद्ध है और उसमें शास्त्रीय संगीत का निर्वाह सुन्दर ढंग से हुआ है ।

जयदेव ने अपने काव्य में गौड़ी रीति को स्वीकार किया है, जिसमें दीर्घ समासों की प्रचुरता होती है । कहीं-कहीं वैदर्भी रीति की भी झलक दृष्टिगोचर होती है । इस रीति में लघु शब्दों द्वारा प्रसाद गुण युक्त वर्णन मिलता है, यद्यपि इसमें कहीं-कहीं दीर्घातिदीर्घ समास भी मिलते हैं । बड़े समासों के होने पर भी इसमें प्रासादिकता का विशेष पुट है । यही कारण है कि उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत उदाहरण को जयदेव ने प्रासादिक-रागात्मिक शैली के रूप में उद्धृत किया है । यथा —

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम ।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ।।

धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली
गोपीपीनपयोधर मर्दनचञ्चलकरयुगशाली ।। ५० ।।[2]

१- गीतगोविन्द - १। ४।७, ५। ११। ४
२- गीतगोविन्द - ५ । ११ । १

आशय यह है कि प्रस्तुत पद्य में राधिका को उसकी सखि हरि के समीप जाने को प्रेरित कर रही है । इस प्रकार अनुप्रासमयी समस्त पदावली में कितनी प्रासादिक-रागात्मिक शैली का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार जयदेव भावानुकूल शैली के प्रयोग में भी निष्णात है उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत पद्य को जयदेव ने भावानुकूल शैली के रूप में उद्धृत किया है । यथा --

सखि ! हे केशीमथनमुदारं [१]

आशय यह है कि प्रस्तुत गीत में कृष्ण के समागम के लिये राधा की उत्कण्ठा का वर्णन है । ध्रुवक पद में राधा द्वारा सखि से कृष्ण-समागम कराने की प्रार्थना की गयी है । इसके पश्चात प्रत्येक पंक्ति केवल दो विशेषणों से बनी है, जिनमें एक विशेषण राधा का और दूसरा कृष्ण का है । राधा स्वयं समागम प्रार्थिनी है इसलिये उसकी उत्कंठा का व्यञ्जक विशेषण पहले आना चाहिये । ये विशेषण सुरतव्यापृत नायिका और नायक के व्यापारों और अनुभावों का ऐसा क्रमिक चित्र उपस्थित करते हैं कि सुरत के प्रारम्भ से अन्त तक का एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित हो जाता है ।

इस प्रकार अभिव्यक्ति की भावानुकूलता गीतगोविन्द के सभी गीतों की विशेषता है । यही कारण है कि जयदेव की " सन्दर्भशुद्धिं गिरां जानाति जयदेव एव [२] यह गर्वोक्ति भलीभांति प्रमाणित हो जाती है । इस प्रकार प्रस्तुत गर्वोक्ति में जयदेव ने अपनी शैली का विकत्थन करते हुए चित्रित किया है ।

महाकवि जयदेव की शैली की एक अन्य विशेषता है-गौड़ी तथा वैदर्भी रीति का अभूतपूर्व समन्वय । आचार्यों ने भी गौड़ी रीति को शृंगारादि

१- गीतगोविन्द - २। ५ ।१

२- गीतगोविन्द - १ । ४

कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त नहीं माना है, तथा समास की प्रचुरता को इस दृष्टि से हेय माना है । "ओज: समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य लक्षणम्"[1] कहकर समास बाहुल्य को गद्य में ही अधिक प्रशस्त माना है । जयदेव ने इन आचार्यों को उनकी इस मान्यता के लिये चुनौती दी है । जयदेव के दीर्घ समासों में भी विलक्षण प्रासादिकता एवं स्वर माधुर्य भरा हुआ है । कहीं-कहीं तो गीत की एक-एक पंक्ति में केवल एक ही समस्त पद समा सका है । यथा —

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ॥[2]

इस प्रकार सम्पूर्ण गीत एक वाक्य में ही समाप्त होता है । इसी प्रकार "सखि हे केशीमथनमुदारम्"[3] वाले गीत में एक ही क्रिया है "रमय" । अत: इस प्रकार के समास बाहुल्य तथा वाक्य विन्यास का अवलोकन कर महाकवि बाण की कादम्बरी का स्मरण आ जाता है, इस प्रकार इतना सब कुछ होने पर भी जयदेव की पदशय्या इतनी ललित और स्पष्ट है कि प्रसादगुण भावना के प्रवाह का साथ नहीं त्यागता । ध्रुवपद में समास का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है तथा अनुप्रास की समस्वरता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है । इस प्रकार गीत-गोविन्द की इस सम्पूर्ण रचना में ऐसे शब्दों को खोज निकालना दुष्कर है जो भावनाओं के ही अनुरूप कोमल न हों ।

अतएव निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जयदेव का कला-पक्ष नि:सन्देह अनुपम है । उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में रमणीयता एवं

१- काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद, कारिका ८०, पृ० सं० ६१ ।

२- गीतगोविन्द - १ । ३ । १

३-

भावोद्रेक क्षमता वर्तमान है । शब्दालंकारों के प्रयोग में कलात्मकता एवं भावव्यञ्जना का अद्भुत समन्वय दृष्टिगत होता है । भावपूर्ण मनोरम शब्दों के विन्यास में जयदेव को अद्भुत सफलता मिली है । इस प्रकार शब्दों के अन्त: संगीत का जैसा माधुर्य गीतगोविन्द में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।

(द) छन्दयोजना :-

गीतगोविन्द में एक ओर संस्कृत के वर्णिक वृत्त तथा दूसरी ओर संगीत के मात्रिक पदों का विचित्र समन्वय दृष्टिगोचर होता है । प्रत्येक सर्ग में प्रबन्धों की संख्या भिन्न है, सभी प्रबन्ध नियमानुसार मात्रावृत्तों में है तथा निश्चित राग में आबद्ध है । इसके अतिरिक्त उनसे पहले या बाद में जो श्लोक आते हैं वह अनिवार्यत: गणवृत्तों में है । इस प्रकार मात्रावृत्तों में रचित प्रबन्ध का संगीतबद्ध गायन होता है तथा गणवृत्तों में होने के कारण श्लोकों का सस्वर पाठ किया जाता है । उदाहरणस्वरूप शार्दूलविक्रीडित तथा वसन्ततिलका आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं । इस प्रकार यद्यपि जयदेव नाना छन्दों के प्रयोग में ही कुशल नहीं है, अपितु वह चरण के मध्य और अन्त दोनों तक में एक सा 'तुक' लाने में अद्वितीय हैं । यथा -

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ।।
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचञ्चलकरयुगशाली ।। ध्रु० ।।[1]

आशय यह है कि यह "मध्य तुक" संस्कृत साहित्य के लिये कोई अपरिचित वस्तु नहीं है । ऋग्वेद में भी इस प्रकार की खोज की जा सकती है । उदाहरण

१- गीतगोविन्द - ५ । ११ । १

स्वरूप —

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।[1]

इसी प्रकार शंकराचार्य के देवीक्षमापनस्तोत्र का यह श्लोक भी इस प्रकार है --

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा ।
निरातङ्को रङ्को विहरति चिरं कोटिकनकैः ।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं ।
जनः को जानीति जननि जपनीयं जपविधौ ॥[2]

आशय यह है कि जयदेव की मध्यानुप्रास योजना इससे भिन्न प्रकार की है । जिस प्रकार जयदेव ने अन्त्य 'तुक' सममात्रिक अथवा समवर्णिक पंक्तियों के अन्त में रखा है, उसी प्रकार मध्य 'तुक' के प्रयोग में भी इस प्रकार के सन्तुलन का ध्यान रखा है । जबकि उपर्युक्त उक्तियों में यह बात लागू नहीं हो पायी है । उदाहरणार्थ - जयदेव की उपर्युक्त पंक्तियों में प्रत्येक पंक्ति मिथुन की प्रथम पंक्ति में 'मध्यतुक' का समावेश किया गया है तथा प्रथम १६ मात्राओं को ८,८ मात्राओं के टुकड़ों में विभाजित कर लिया गया है । जिसमें प्रथम चार मात्राओं के अन्त में चार-चार मात्रा वाले शब्दों द्वारा 'तुक' की सृष्टि की गयी है । इस प्रकार पूरे प्रबन्ध में इसी क्रम का पूर्णरूपेण निर्वाह किया गया है, जिस कारण 'तुक' संगीत का एक अविभाज्य अङ्ग बन गयी है । यथा --

पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम् ।
मुखरमधीरं त्यजमञ्जीरं रिपुमिव केलिषु लोलम् ।
विगलितवसनं परिहृतरसनं घटय जघनमपिधानम् ।[3]

१- ऋग्वेद - ६। ४७। ११ पृ० सं० २१२१
२- स्तोत्र रत्नावली - श्लोक ४, पृ० सं० ६६ ।
३- गीतगोविन्द - ५। ११।३, ४,५

इस प्रकार प्रत्येक पंक्ति में रेखांकित अनुच्छेदों के पश्चात के अनुच्छेद, जो तीर के चिन्ह द्वारा दिखाये गये हैं तुक की सृष्टि करते हैं। अत: यह पंक्ति के "मध्य तुक" की सृष्टि हुई। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्रकार कहीं-कहीं पंक्ति मिथुन की दोनों पंक्तियों के अन्त में "तुक" का विधान किया जाता है उसी प्रकार मध्य में भी। किन्तु अन्तर केवल इतना है कि "मध्य तुक" में पहली पंक्ति की अपेक्षा दूसरी में एक मात्रा कम कर दी जाती है। यथा --

वहति मलय समीरे मदनमुपनिधाय।
स्फुटति कुसुमनिकरे विरहिहृदयदलनाय
दहति शिशिरमयूखे मरणमनुकरोति।
पतति मदनविशिखे विलपति विकलतरोऽति।
ध्वनति मधुपसमूहे श्रवणमपि दधाति।
मनसि वलित विरहे निशि-निशि रुजमुपयाति।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि "तुक" सृष्टि में प्रथम पंक्ति के कम से कम अन्तिम दो अक्षरों के स्वर द्वितीय पंक्ति में अवश्य दुहराये

१- गीतगोविन्द - ५। १०, १, २, ३

जाते हैं, किन्तु उक्त गीत के मध्य में जयदेव ने केवल एक अक्षर के स्वर एवं व्यञ्जन की पुनरावृत्ति का 'तुक' की प्रतिष्ठा की है। अत: यह पंक्तियों के अन्त की 'तुक' प्रचलन के अनुसार है। इस प्रकार की मध्य 'तुक' को तुकार्ग भी कह सकते हैं।

अतएव जयदेव की इस तुकान्त रचना को देखकर कतिपय लोगों की यह धारणा है कि गीतगोविन्द का निर्माण अपभ्रंश के नमूने के आधार पर हुआ होगा, परन्तु उनकी इस धारणा का अनुमान समीचीन नहीं है। क्योंकि इसका कारण यह है कि इस प्रकार की रचना का आधार अन्त्यानुप्रास है। जो कि संस्कृत में जयदेव के काल से बहुत पहले से प्रसिद्ध रूप में चला आ रहा है।

अत: निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि इनके छन्दों में लघुमात्राओं की प्रचुरता, संयुक्ताक्षरों की कमी और अनुप्रासात्मक ध्वनियों की बहुश: आवृत्ति आदि स्पष्ट विशेषताएं दृग्गोचर होती हैं तथा इनके छन्द गणपद्धति के अनुसार है।

(ब) गीतगोविन्द में संगीतात्मकता --

महाकवि जयदेव के अपने गीतगोविन्द रागकाव्य में प्रत्येक गीत के लिये प्रबन्ध और अष्टपदी का प्रयोग हुआ है। संगीत की दृष्टि से गीतगोविन्द में २४ प्रबन्ध या अष्टपदियां है, उन्होंने सभी प्रबन्धों की रचना विशिष्ट रागों एवं तालों में की है। जयदेव उन्हें पदावलियां कहना पसन्द करते थे, जो अष्टपदियों के नाम से लोकप्रिय हुई है। इन अष्ट-पदियों में प्रत्येक बार आठ पद हो यह अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार राग और ताल का आधार यही अष्टपदियां हैं। अतः मात्रावृत्तों में रचित यह अष्टपदियां सहज संगीत से परिपूर्ण है, यही कारण है कि मात्रावृत्तों में रचित अष्टपदियों का शास्त्रीय संगीत के अनुसार गायन एवं अभिनय होता है। जयदेव की यह अष्टपदियां द्विधातु प्रबन्ध है जो उद्ग्राह तथा ध्रुव में विभाजित है। कर्नाटक संगीत में जो 'पल्लवी' और 'चरण' में विभाजित हैं। जयदेव से ही प्रेरणा लेकर अनेक दक्षिण भारतीय कवियों ने अष्टपदियों की रचना की है।

गीतगोविन्द रागकाव्य में वसन्त, रामकिरी रागमालव, गुर्जरी आदि १४ रागों तथा रूपक, एकताली आदि ६ तालों का प्रयोग हुआ है। कर्नाटक संगीत में आज भी ये राग तथा ताल प्रचलित है, उत्तर भारतीय संगीत में भी रागों और तालों की यही स्थिति है। उदाहरणस्वरूप गीतगोविन्द रागकाव्य में रागों तथा तालों का प्रयोग इस प्रकार है। यथा --

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।

मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।।

विहरति हरिरिह सरसवसन्ते

नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।। ध्रुव ।। १।।

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।

अलिकुलसङ्कुलकुसुमसमूहनिराकुलवकुलकलापे ।। वि० ।। २ ।।

मृगमदसौरभरभसवंशवदनवदलमालतमाले ।

युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ।। वि० ।।३।।

मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेसरकुसुमविकासे ।

मिलितशिलीमुखपाटलिपटलकृतस्मरतूणविलासे ।। वि० ।।४।।

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ।

विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे ।। वि० ।।५।।

माधविकापरिमलललिते नवमालिकयातिसुगन्धौ ।

मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ।।वि०।।६।।

स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकितचूते ।

वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ।। वि० ।।७।।

श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।

सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ।। वि० ।।८।।[१]

इस प्रकार उपर्युक्त गीतगोविन्द की सम्पूर्ण अष्टपदी में वसन्तराग तथा यतिताल का प्रयोग हुआ है, इसी प्रकार गीतगोविन्द के चन्दनचर्चित विहरति वने राधा - - - - , मामियं चलिता विलोक्य - - - - - - - , यमुनातीर-वानीर निकुंजे - - - - , आदि अन्य पदों का शास्त्रीय संगीत के अनुसार गायन होता है । इस प्रकार यह भी सर्वविदित है कि गीतगोविन्द की रचना

१- गीतगोविन्द - १। ३। १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ ।

अभिनय के उद्देश्य से हुयी थी और इसका अभिनय जयदेव की पत्नी पद्मावती द्वारा किया गया था । उदाहरणस्वरूप --

> वाग्देवताचरितचित्रितचित्त
>
> पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती ।[1]

आशय यह है कि गीतगोविन्द के दूसरे पद से ज्ञात होता है कि उनकी पत्नी पद्मावती नर्तकी थी और जयदेव मन्दिर में उसके भक्तिपूर्ण नृत्य की संगत करने वाली मंडली के नेता के रूप में गीतगोविन्द के गीत गाया करते थे । इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि गुजरात में गीतगोविन्द उन वैष्णव यात्रियों द्वारा लाया गया जिन्होंने इसे पुरी या कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय के किसी अन्य पूर्वी केन्द्र में सुना था । जय-विजय के द्वारमार्ग के दाईं ओर स्थित उड़िया भाषा और लिपि में अंकित एक शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि मन्दिर में गीतगोविन्द का अभिनय होता था ।[2] तथ्य तो यह है कि गीतगोविन्द की अष्टपदियां समकालीन नवशास्त्रीय ओडीसी नृत्य का अङ्ग है । अत: यह भी कहा गया है कि जगन्नाथ का प्राचीन नाम पुरुषोत्तम है, अनर्घराघव के कर्ता मुरारि ने १०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुरुषोत्तम की (रथ) यात्रा का

१- गीतगोविन्द - १। २

२- सन्दर्भभारती - चक्रवर्ती, मनमोहन 'उड़िया इंस्क्रिप्शंस आफ द फिफटींथ एण्ड सिक्सटींथ सेंचुरीज', जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, ६२, भाग १ (१८९४), ८८-१०४ तथा देखिये मित्र विरचित, 'कल्ट आफ जगन्नाथ', पृष्ठ ५४-५५ । रिफर्ड द्वारा - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६० ।

उल्लेख करते हुए पुरुषोत्तम को कमला के कुचकलशों पर कस्तूरी से पत्रांकुर बनाते हुए चित्रित किया है । यथा --

'कमलाकुचकलशकेलिकस्तूरिका पत्राङ्कुरस्य'[1]

इसका गीतगोविन्द के 'श्रितकमलाकुचमण्डल धृतकुण्डल'[2] से कितना साम्य है, तथा मणिपुर में आषाढ़ माह में नौ दिनों तक होने वाले जगन्नाथ के रथयात्रा उत्सव में प्रत्येक मन्दिर में 'जयदेव चोंग्बा' बोलकर ताली के साथ दशावतार 'प्रलय पयोधि जले'[3] - - - -' का गायन कर नृत्य किया जाता है तथा दशावतार पूर्ण होने के बाद 'श्रितकमलाकुचमण्डल[4] - - - - -' आदि पूरा पद गाया जाता है । इसी प्रकार गीतगोविन्द का अन्तिम पद भी जयदेव ने पुरुषोत्तम को समर्पित किया है । यथा --

'व्यापार: पुरुषोत्तमस्य ददतु स्फीतां मुदां संपदम्'[5]

तात्पर्य यह है कि गीतगोविन्द पुरुषोत्तम मन्दिर में गायन हेतु तत्काल स्वीकार कर लिया गया तथा मध्य रात्रि के शृङ्गार के अवसर पर देवदासियां इसी को गाती थीं तथा इसी पर नृत्य करती थी ।

अतएव यह कहा जा सकता है कि गीतगोविन्द के प्रत्येक अक्षर में संगीत है, और वह शक्ति है जो अपने शिव और सुन्दर की प्रेरणा से हृत्तन्त्री

१- अनर्घराघव (मुरारि) - प्रथम अंक, पृ० सं० ४

२- गीतगोविन्द - १। २। १

३- गीतगोविन्द - १। १। १

४- गीतगोविन्द - १। २ ।१

५- गीतगोविन्द - १२वां सर्ग,श्लोक संख्या १३,पृ० सं० १७३ ।

को निनादित करने में समर्थ हैं । इस प्रकार जिन शब्दों के द्वारा इन अदाओं का संयोजन किया गया उनकी भाव-प्रवणता कम से कम संस्कृत साहित्य में अप्रतिम ही है ।

इस प्रकार गीतगोविन्द की अष्टपदियों में रागों तथा तालों का प्रयोग होने के कारण शास्त्रीय संगीत के अनुसार उनके गीतों का अभिनय, गायन एवं नर्तन होता गा । गीतगोविन्द को दूर-दूर तक लोकप्रिय बनाने में चैतन्य महाप्रभु का प्रमुख योग रहा है । प्रस्तुत रागकाव्य गीतगोविन्द का परिचय जयदेव ने पदावली के रूप में दिया है, यह पदावली शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि चैतन्य के पदार्पण से बंगाल में विपुल गीत साहित्य का विकास हुआ और वह पदावली साहित्य कहलाया । बंगाल में कीर्तन के रूप में इसका गायन बहुत प्रचलित और लोकप्रिय है, जगन्नाथ मन्दिर में देवदासियों के द्वारा भगवान को शयन-बेला पर गीतगोविन्द के पद गाने की परम्परा अब मन्दिर के परिसर से निकल कर जनसमाज में प्रसार पा चुकी है । तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र, कर्नाटक, बंगाल, मणिपुर तथा उत्तरप्रदेश के हिन्दुस्तानी संगीत में भी इसके गायन की परम्परा का प्रचलन है । दक्षिण भारत (तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक) में स्त्रियां एकल गायिका के रूप में, भजन की भांति इसे गाती हैं । इसके विपरीत बंगाल, उड़ीसा तथा मणिपुर में कीर्तन मण्डलियों में गीतगोविन्द के पद गाने की परम्परा है । इस प्रकार कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत के शास्त्रीय रागों में तो इसे संगीतज्ञों ने निबद्ध किया है । इस प्रकार जयदेव के गीतों की गायन परम्परा के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जयदेव के युग में किस प्रकार का नृत्य प्रचलित था, जिसका अनुसरण उन्होंने गीतगोविन्द में किया ? इस प्रकार निश्चित प्रमाण के अभाव में केवल अनुमान ही एक ऐसा आधार है, जिसके आधार पर अनुमान लगा सकते हैं कि पूर्वी भारत में दो प्रकार के लोक-नृत्यों की परिणति शास्त्रीय नृत्यों में हुई है --

१- ओडिसी

२- कुचिपुडी

वस्तुत: सभी प्राचीन कलाएं देवालय कलाएं रही हैं, और मन्दिर के उपासना-गृह के सम्मुख नटमण्डप में उनके लिये सदा उपयुक्त और पर्याप्त स्थान की व्यवस्था की जाती रही है। इसी सन्दर्भ में क्या यह कहा जा सकता है कि जयदेव के युग में गीतगोविन्द में जिस नृत्य-शैली का प्रयोग किया गया, उसके साथ ओडसी नृत्य-परम्परा का किसी प्रकार से बीज-रूप में कोई सम्बन्ध था? इस सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि यह नृत्यशैली किसी भी प्रकार से अल्पविकसित अवरुद्ध अथवा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी। भरत के समय से ही नृत्य-परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है। अत: प्रसंगवश यह भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि चाहे ओडिसी हो चाहे कुचिपुडी, जयदेव की अष्टपदी का एक अंश उसमें सामान्यत: शामिल किया ही जाता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत के शास्त्रीय रागों में इसे संगीतज्ञों ने निबद्ध किया है। यही कारण है कि कर्नाटक शैली में आबद्ध गीतगोविन्द के रागों को लेकर रुक्मिणीदेवी ने गीतगोविन्द से सम्बन्धित नृत्य-नाटिकाओं की रचना की है। ओडिसी और मणिपुरी नृत्यशैलियों में गीतगोविन्द पर आधारित नृत्य की परम्परा सदियों से सुरक्षित है - विशेषरूप से मणिपुरी में। उत्कल की नृत्य-परम्परा इस शताब्दी के प्रारम्भ में लुप्तप्राय-सी थी किन्तु पूर्णत: विलुप्त होने से पूर्व उसे मन्दिर की नर्तकियों तथा पारम्परिक नर्तक-किशोरों के सहयोग से एवं कोणार्क मन्दिर में उत्कीर्ण नर्तकियों की भाव-भंगिमाओं की सहायता से सफलतापूर्वक पुनरुज्जीवित कर लिया गया। अत: यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र ने अपनी विशिष्ट शैली का विकास किया और क्षेत्रीय संस्कृति को समृद्ध किया, जो अनेकता में एकता का प्रतीक है।

(ङ) नवशास्त्रीय नृत्यशैलियों में गीतगोविन्द का प्रस्तुतीकरण —

गीतगोविन्द के प्रस्तुतीकरण में नवशास्त्रीय नृत्यशैलियों का बहुत योगदान रहा है। केरल विश्वविद्यालय त्रिवेन्द्रम के डा० अयप्पा पानिकर के विद्वत्तापूर्ण लेख से ज्ञात होता है कि केरल विश्वविद्यालय के पाण्डुलिपि पुस्तकालय के महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों में १६२ पृष्ठीय मलयालम मंच संहिता है जिसमें गीतगोविन्द के पारंपरिक कथकली शैली में प्रस्तुतीकरण का उल्लेख है।[१] इसका नाम है 'अष्टपदी अट्टप्रकारम्' और यह कूडियाट्टम् की मंचप्रस्तुति के लिये बहुत पहले से चले आ रहे अट्टप्रकारम् का अनुकरण करती है। इसके लेखक रामवर्मन् कोचिन के निकट एडपल्ली के श्री वासुदेवन वलिया तम्पुरन के आश्रित एक पंडित थे। इसमें अभिनय की प्रणाली वही है जो कथकली में अपनायी जाती है। इसमें मंच प्रस्तुति का मूलाधार तौर्यत्रिक का प्रयोग है और पूरी नृत्यकला का नियंत्रण मृदंग द्वारा किया जाता है। काव्य की अत्यन्त अलंकारयुक्त शैली इस अतिविस्तृत और आशुअभिनय के लिये सर्वाधिक उपयुक्त है। अत: गीतगोविन्द की पुनर्रचना इस प्रकार की जाती है कि वह कथकली शैली में प्रस्तुत की जा सके। इस प्रकार कथकली शैली के परिदृश्य में गीतगोविन्द का 'मंजुतरकुंजतल-केलिसदने, विलसरतिरभस हसितवदने, प्रविश राधे! माधवसमीपमिह।' का पाठ मिलता है। इसी के आधार पर कथकली अभिनेता 'कलशम' शुद्ध नृत्य

१- सन्दर्भ भारती - पनिकर अयप्पा, 'अष्टपदी अट्टप्रकारम्' 'गीतगोविन्द सम्बन्धी मलयालम रंगमंच नियम-पुस्तिका, १८-१६, १६८० को कलकत्ता में हुई भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता की संगोष्ठी में पढ़ा लेख। रिफर्ड द्वारा डा० अयप्पा पणिकर के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ४२।

करते हैं।[1] इसी प्रकार मलयालम में भी ऐसी कविताएं हों जो केरल के विभिन्न भागों में गीतगोविन्द की तरह शताब्दियों से लोकप्रिय रही हों, केरल के जीवन और संस्कृति पर सामान्यत: और काव्य पर विशेषत:, संस्कृत का प्रभाव, मणिप्रवाल शैली का उदय, सूर्यास्त के समय केरल के लगभग सभी मन्दिरों में गीत-गोविन्द के गान का सतत प्रभाव रहा है जिसके परिणामस्वरूप केरल के नर्तकों और संगीतकारों ने विभिन्न प्रकार से उसका उपयोग किया है।

इसी प्रकार मणिपुरी नर्तन शैली पर गीतगोविन्द का प्रभाव परिलक्षित होता है। मणिपुर में विविध प्रसंगों पर जयदेव के गीतगोविन्द के मूल पदों का प्रयोग होता आया है। यथा - हरिविलास के अष्टम विलास में वर्णन है कि प्रभु की स्तुति करताली नर्तन द्वारा करने से मुक्ति मिलती है, इसके अनुसार मणिपुर में आषाढ़ माह में नौ दिनों तक होने वाले जगन्नाथ के रथयात्रा उत्सव में प्रत्येक मन्दिर में 'जयदेव जोम्बा' बोलकर ताली के साथ दशावतार 'प्रलय पयोधि जले - - - - - गायन का नृत्य किया जाता है। दशावतार पूर्ण होने के बाद 'श्रितकमलाकुचमण्डल- - - ' पूरा पद गाया जाता है।[2] इस प्रकार जयदेव के मधुर कोमलपदों की लालित्यपूर्ण सुकुमार अंगभंगी-युक्त मणिपुरी नर्तन शैली में अभिव्यंजना की जाती है। मणिपुरी नृत्य-शैली में अभिनय अधिकतर 'गमक' रीति से किया जाता है। तात्पर्य यह है कि सृजनात्मक राधा उत्तर नायिका होने के कारण उसका अभिनय इतना यथार्थ नहीं होगा जितना कि गम्भीर एवं मर्यादायुक्त होगा, जैसे खण्डिता नायिका में राधा का क्रोध या ईर्ष्या का भाव है किन्तु मणिपुर में साधारण दु:ख या व्यथा का भाव व्यक्त करेंगे, यानि दु:ख मिश्रित क्रोध और ईर्ष्या में। इसमें

१- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६१।

२- सन्दर्भ भारती - गुरु विपिन सिंह के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ४७।

मुखाभिनय स्वाभाविक रीति से होगा, किन्तु हस्तकाभिनय का विनियोग सांकेतिक रीति से होता है । कभी-कभी अंग द्वारा भी अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है । मणिपुर में आज तक मन्दिरों में नृत्य-संगीत होता आया है, इसमें भक्ति का महत्व, शैली में मर्यादा एवं संस्कारिता अधिक है ।

अतएव मणिपुरी शैली में जो संयम दिखाई देता है वह भिन्न सौन्दर्यात्मक दृष्टि का परिचायक है । इस संयत प्रस्तुति ने अष्टपदियों को बहुत गरिमा प्रदान की है, `श्रितकमलाकुचमंडल धृतकुंडल ए` का गुरु अमुबी सिंह द्वारा किये गये अभिनय ने दर्शकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है, जिन्होंने उन्हें गाते और अभिनय करते देखा है । इसी प्रकार गुरु विपिन सिंह की `याहि माधव याहि केशव` ऐसे प्रस्तुतीकरण का प्रयास है जो मणिपुरी परम्परा के ढांचे में खंडित नायिका का शब्दचित्रण है ।[१] इस प्रकार राधा की व्यथा, अन्य गोपियों के साथ कृष्ण द्वारा समय व्यतीत करने पर असाम्य क्रोध तथा उसके परिणामस्वरूप होने वाली ईर्ष्या और दुख आदि बातें कलात्मक रूप में उभर कर आयी हैं ।

इसी प्रकार गीतगोविन्द को नृत्य-नाटक के रूप में भी प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यही कारण है कि नृत्य-नाटक के कला-क्षेत्र संग्रहों में गीतगोविन्द अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है । इसकी नृत्यलिपि ऐसे नृत्य-नाटक के रूप में तैयार की गयी है जिसमें गोपियों-कृष्ण के मुख्य रूपों, राधा, सखी की भूमिकाएं अनेक नर्तक-नर्तकियां निभाती हैं । उदाहरणस्वरूप --

---

१- सन्दर्भ भारती - गुरु विपिन सिंह ने मणिपुर नृत्य-शैलियों पर गीतगोविन्द के प्रभाव के विभिन्न पक्षों को बताया है । मैंने विभिन्न उत्सवों पर मणिपुर विशेष में रास-लीलाओं को भी देखा है । मार्च १९६१ में संगीत नाटक अकादमी और ललित कला अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में नई दिल्ली में गीतगोविन्द उत्सव के रूप में आयोजित संगोष्ठी में `श्रितकमला-कुचमंडल` अष्टपदी का एक मणिपुरी नृत्याकार, सम्भवत: अमुबी द्वारा किया गया अभिनय ।

रिफर्ड बाई - डा० सुनील कोठारी लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६७ ।

'रुक्मिणी देवी तथा अन्य प्रवर्तक तथा पुनरुत्थानवादी कलाकारों ने गीतगोविन्द पर आधारित नृत्य नाटकों का सृजन किया है। मृणालिनी साराभाई ने इसे दिल्ली में १६५८ में आयोजित अखिल भारतीय नृत्य संगोष्ठी में नृत्य-नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था। उड़ीसा के एक दल ने भी इसे ओडीसी शैली में नृत्य-नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था। बम्बई के प्रसिद्ध नृत्यकलाकार योगेन्द्र देसाई ने इसे जयदेव और उसकी पत्नी पद्मावती की कथावस्तु के साथ नृत्य-नाटक के रूप में प्रस्तुत किया, कवेरी बहनों ने इस भाग को मणिपुरी शैली में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इस कृति के अभिनय में अपनायी गयी अन्य शैलियां हैं - कत्थक तथा अन्य मिश्रित शैलियां। परन्तु गीतगोविन्द के नृत्य मणिपुरी शैली में ही है और इसके मूल रूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था।'[1] इसी प्रकार नृत्यकारों द्वारा प्राय: मंच पर संगीत के योग में की जाने वाली अन्तिम अष्टपदी 'कुरु यदुनंदन' प्रतिभाशाली नृत्यकार के नृत्य की क्षमता का उदाहरण है। 'इस अष्टपदी की गुरु केलुचरण महापात्र द्वारा ओडीसी में तथा सी० आर० आचार्युलु द्वारा कूचीपुडी में प्रस्तुति का उल्लेख मिलता है।'[2]

डा० सुनील कोठारी ने अपने लेख में लिखा है कि मैंने १६५२ ई० में रानी कर्णा से जानकारी प्राप्त की थी कि डा० श्रीमती कपिला वात्स्यायन (मणिपुरी), श्रीमती ललिताशास्त्री (भरतनाट्यम्) और रानी कर्णा (कत्थक) ने अष्टपदियों को तीन विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मैंने 'हरिरिहमुग्ध वधू' अष्टपदी की श्रीमती मायाराव और उसकी छात्रा जयश्री ठाकुर द्वारा कत्थक में प्रस्तुति देखी है।'[3]

अतएव यह कहा जा सकता है कि समकालीन रंगमंच पर विभिन्न नृत्य-शैलियों में सफल नर्तकों द्वारा अष्टपदियों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

१- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६५।
२- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६६।
३- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६८।

(ख) गीतगोविन्द की अन्य व्याख्याएं —

गीतगोविन्द काव्य के सन्दर्भ में तीन या चार पक्ष हो सकते हैं । इसमें एक पक्ष है, पूर्णतया वर्णन का, प्रकृति का और शृङ्गार का है । इसमें शृङ्गारिक पक्ष को लेकर कुछ आधुनिक आलोचकों की धारणा है कि जयदेव के काव्य में राधा-कृष्ण शृङ्गार के सामान्य नायक-नायिका बनकर रह गये हैं ।[१] अतः यह अश्लील काव्य माना जा सकता है । किन्तु उनकी यह धारणा अनुचित प्रतीत हुई । इस काव्य में शृङ्गार का पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इसी शृङ्गार में से भक्ति का निर्माण होता है । इस प्रकार माधुर्य रस के भक्त कवि जयदेव पर यह लाञ्छन अन्यायपूर्ण होगा । इसी प्रकार एक दूसरे स्तर पर नायिका और नायक भी बार-बार मुखरित होते हैं । इन दोनों स्तरों के अतिरिक्त उसमें एक मानवीय स्तर है और एक आध्यात्मिक स्तर है । इस प्रकार मानवीय स्तर पर वियोग और संयोग तथा आध्यात्मिक स्तर पर यह जीवात्मा और परमात्मा का अलगाव और मिलन है । इन दोनों या तीनों स्तरों को साथ लेकर एक और स्तर सामने आता है । जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतगोविन्द में जो भी कहा गया है वह किसी भी प्रकार से विशुद्ध शृङ्गारकाव्य की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है । यह सिर्फ शृङ्गार नाम और रूप की अभिव्यक्ति है । यह शृङ्गार पांचो इन्द्रियों की अभिव्यक्ति है जो साथ ही साथ इन्हीं इन्द्रियों से परे पररूप और अरूप की ओर संकेत करती है । इसी प्रकार गीतगोविन्द काव्य का एक और पक्ष प्रतीकात्मक दार्शनिक स्तर पर भी माना जा सकता है । इसमें कृष्ण को अव्यक्त और

१- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० सं० ३३६ ।

राधा को व्यक्त रूप में मान सकते हैं। राधा एक प्रकार से इन्द्रियों का प्रतीक है, वह (श्री) धरती का प्रतीक है। रूप, रंग, दृष्टि, स्वर, स्पर्श ये सब राधा है, ये परमात्मा से अलग हो जाते हैं, और फिर परमात्मा में विलीन हो जाते हैं। विलीन होने के पश्चात जैसा कि गीतगोविन्द काव्य की २२, २३वीं अष्टपदी में संभोग के पश्चात, अपने-अपने स्थानों पर पहुंच जाते हैं। और इन्हीं इन्द्रियों से पुन: राधा कहती है कि वह उनको अलंकृत कर दे। इस अलंकरण का अर्थ भारतीय दर्शन में बहुत ही गम्भीर एवं गहरा है। यहां श्रृंगार और भक्ति का परस्पर द्वन्द्व नहीं है, यहां शरीर और मन का, बुद्धि का आत्मा का परस्पर विरोध नहीं है। ये सब दृष्टि के अनेक स्तर हैं जोकि सब एक साथ मुखरित होते हैं। शरीर या तनु की भारतीय दर्शन में अवहेलना नहीं की गयी है, पर इस शरीर के मन्दिर का जो शुद्ध और पवित्र रूप है उसी को देखने का प्रयत्न गीतगोविन्द है। इस प्रकार इन सब इन्द्रियों के, शरीर के, और मन के संसार के जितने भी भाव हैं, संचारीभाव, व्यभिचारीभाव, उसका सन्देह, उसकी ईर्ष्या, उसका वियोग, उसका संशय, इन सब अनुभवों में से राधा भी गुजरती है और कृष्ण भी गुजरते हैं और उसके पश्चात वे एक भावनात्मक स्तर पर एक हो जाते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि गीतगोविन्द को समझने के लिये भारतीय दर्शन और भारतीय दृष्टि अनिवार्य है। परन्तु इसी सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि गीतगोविन्द के

अनुवादों में इसकी एक परत ही सामने आयी है। इसके तो चार स्तर हैं- शरीर का, मन का, बुद्धि का, आत्मा का वह सामने नहीं आये हैं।

अतः तकनीकी स्तर पर यह कहा जा सकता है कि गीतगोविन्द की गहराई शीघ्रता से समझ में नहीं आती, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर उसकी गहनता का बोध हो जाता है। इस प्रकार गीतगोविन्द की ऐसी प्रेरणा रही है कि व्यतीत हुई कई शताब्दियों में उसके शब्द-लालित्य और भाव-व्यञ्जना की कलात्मक अभिव्यक्ति की अनेक अनुकृतियां हुई है। यही कारण है कि गीतगोविन्द संस्कृत साहित्य के रागकाव्यों का प्रेरक है, अतः संस्कृत साहित्य में जयदेव के गीतगोविन्द रागकाव्य परक ग्रन्थ पर आधारित रागकाव्य भी लिखे गये हैं। इसी से सभी रागकाव्यों को जयदेव की परम्परा में उल्लिखित माना जाता है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि गीतगोविन्द सभी राग-काव्यों का प्रेरणास्रोत है।

इस प्रकार अधुना इस प्रसंग की शृंखला में गीतगोविन्द पर आधारित प्रमुख रागकाव्यों की समालोचना का विस्तार से वर्णन विवेचनीय एवं प्रासङ्गिक है।

-0-

पञ्चम् अध्याय

संस्कृत साहित्य के अन्य रागकाव्य

(क) रामभट्ट विरचित गीतगिरीशम्

ĭ अ ĭ गीतगिरीश-परिचय तथा आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित
१६ रामभट्टों की तालिका ।

ĭ ब ĭ गीतगिरीशम् की विषयवस्तु

ĭ स ĭ गीतगिरीशम् की काव्यात्मकता

(१) नायिका के विविध रूप

(२) भाषा-शैली

(३) छन्द-योजना

(४) अलंकारयोजना

(५) शब्दगत वैशिष्ट्य

ĭ द ĭ गीतगिरीशम रागकाव्य में संगीत-योजना

(ख) जयदेव विरचित रामगीतगोविन्दम

ĭ अ ĭ रामगीतगोविन्द के रचयिता एवं रचनाकाल

ĭ ब ĭ रामगीतगोविन्द की विषयवस्तु

ĭ स ĭ गीतगोविन्दकार जयदेव और रामगीतगोविन्दकार
जयदेव : एक तुलनात्मक दृष्टि

ĭ द ĭ रामगीतगोविन्द रागकाव्य में कतिपय नवीन
शब्दों का प्रयोग ।

ĭ इ ĭ रामगीतगोविन्द में संगीत-योजना

—

संस्कृत साहित्य के अन्य रागकाव्य

(क) रामभट्ट विरचित गीतगिरीशम् --

(अ) गीतगिरीश - परिचय तथा आफ्रेक्ट द्वारा उल्लिखित १६ रामभट्टों की तालिका :-

प्रस्तुत गीतगिरीश रागकाव्य जयदेव की परम्परा में लिखा गया है । इसके कवि रामभट्ट हैं । इस कवि ने पुस्तक के अन्त में अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए अपने पिता का नाम श्रीनाथ भट्ट और अपना नाम रामभट्ट बतलाया है ; श्लोक इस प्रकार है -

> आसीदसीममहिमा स हिमाऽवदात-
> मूर्तिर्मवस्य चरणाऽर्चनयाऽऽप्तकीर्तिः ।
> श्रीनाथभट्ट इति तत्तनयेन राम -
> नाम्नाऽद्भुतं व्यरचि गीतगिरीशमेतत्[1]

इस कवि का दूसरा नाम रामचित् भट्ट भी है, इसकी जानकारी 'गीतगिरीश' के निम्नलिखित श्लोक से होती है --

> रामचित्कविवर्णितं कलिकल्मषं विनिहन्ति ।
> गीतमेतदधीतमाशु लसद्यशोऽपि तनोति ॥[2]

इस प्रकार कवि के नाम के साथ भट्ट शब्द के प्रयोग से यह निश्चित है कि ये जाति के गुजराती अथवा महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे ।

१- गीतगिरीश - १२ ।१२, पृ० सं० ५४ ।

२- गीतगिरीश - ३ । ८, पृ० सं० १४ ।

रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में 'गीतगिरीश' की दो प्रतियां हैं, जिनमें से एक का प्रतिलिपि काल संवत् १७५६ है।[1] इसे ईसवीय सन् में परिणत करने पर १७०२ आता है। यह सर्वविदित है कि प्राचीनकाल में आजकल के समान मुद्रण और यातायात की व्यवस्था सुलभ नहीं थी, इस कारण किसी ग्रन्थ के प्रचार-प्रसार और ख्याति प्राप्त करने में १०० वर्ष लग जाते थे। अतः इस तर्क के आधार पर इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६वीं शताब्दी का पूर्वभाग मानना अनुचित न होगा। इसलिये इस ग्रन्थ की लिपि से भी लेखक का जन्मकाल अनुमान के आधार पर १६ वीं शताब्दी का पूर्व भाग माना जा सकता है।

प्रस्तुत रागकाव्य 'गीतगिरीश' के रचयिता रामभट्ट नाम के अनेक व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

जर्मन विद्वान आफ्रेक्ट ने अपने 'केटलागस केटलागारम' में रामभट्ट नामधारी १६ व्यक्तियों का उल्लेख किया है।[2] इनके विषय में इन्होंने अत्यन्त संक्षेप में इतना ही लिखा है कि 'श्रीनाथ के पुत्र गीतगिरीश' और 'घनमानविवेक' के कर्ता।

१- रामभट्ट - नीलकण्ठ के पिता, कृति कालिकातिलक।

१- संवत् १७५६ वर्षे श्रावदि १३ शनौ श्री त्रं गोपालजी गणेश सुतेन लिखितं स्वपठनार्थम्। - रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता की सूची, पृ०सं०१८१, refered by - गीतगिरीश की भूमिका - पृ० सं० ६।

२- केटलागस केटलागारम् - पृ० सं० ५०५, ५०६, ५०७।

२- रामभट्ट - राघव ने उल्लेख किया है ।

३- भट्टराम - कृति उर्व्वोक्ति मदालसा नाटक

४- रामभट्ट - कृति कौतुकलीलावती

५- रामभट्ट - कृति त्रिस्थलीकार्य

६- रामभट्ट - कृति दाक्षिण्यश्रीकालिकानित्यपूजापद्धति, मतंगिनी पद्धति ।

७- रामभट्ट - कृति वृत्तामृत

८- रामभट्ट - कृति प्रक्रियाकौमुदी टीका

९- रामभट्ट - कृति मदालसानाटकम्

१०- रामभट्ट - कृति रामकल्पद्रुम

११- रामभट्ट - कृति रामविक्रम चन्द्रिका

१२- रामभट्ट - कृति संक्षिप्त होम प्रकार

१३- रामभट्ट - कृति सापिण्डयनिर्णय

१४- रामभट्ट - कृति कवि नृपति रामभट्ट और उनका 'गीत-गिरीशम्' रागकाव्य सारस्वतप्रक्रिया टीका ।

१५- रामभट्ट - कृति भूपसिंहदानरत्नाकर

१६- रामभट्ट - कृति गीतगिरीशम् (श्री नाथ के पुत्र) ।

(ब) गीतगिरीशम् की विषयवस्तु :—

'गीतगिरीश' रागकाव्य में १२ सर्ग हैं। कवि ने मंगलाचरण के पश्चात अति आदर एवं श्रद्धापूर्वक श्रीहर्ष, भारवि और कविकुलगुरु कालिदास का स्मरण किया है। श्लोक इस प्रकार है —

हर्षः श्रीहर्षनामा रचयति वचनैरद्भुतार्थैर्द्रुतं हि -
गम्भीरैर्भावितो भारविरपि तनुते चित्तपद्मप्रबोधम्।
वाग्गुम्फैः सप्रसादैर्मृदुमधितपदैः कालिदासः प्रमोद
स्फुरल्लोकेषु तेषामहमपि वरणाऽम्भोजभृङ्गोऽस्मि रामः।[1]

इसी प्रसंग में कवि नृपति रामभट्ट ने स्पष्ट कहा है कि यह काव्य मैंने कविराज जयदेव के अनुकरण में लिखा है। श्लोक इस प्रकार है —

हर्षेण कपिरनुकरोति यथाऽयम्,
खद्योतो रविमपि निर्भयो यथाऽऽद्यम्।
औत्सुक्यादहमधुना तथाऽनुकुर्वे,
लालित्यं कविजयदेवभारतीनाम् ॥[2]

कवि नृपति रामभट्ट ने इस रागकाव्य का प्रारम्भ अत्यन्त नाटकीय आधार पर किया है, सर्वप्रथम कवि ने एक गीत 'ललित राग' में विघ्नहरण भगवान गणपति की वन्दना में लिखा है, उसके पश्चात् द्वितीय गीत में शंकर

१- गीतगिरीश — १।२, पृ० सं० १

२- गीतगिरीश — १।३ पृ० सं० १

भगवान के विराट्-स्वरूप अष्टमूर्ति का वर्णन किया है। यह वर्णन जयदेव के दशावतार वर्णन के समान सरस और आकर्षक है। इसके बाद कवि काव्य की कथा का प्रारम्भ-भूमि पर चेतन तथा अचेतन जन के मन को आन्दोलित करने वाले ऋतुराज बसन्त के आगमन वर्णन से करता है। उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है[१]—

> सरसरसालकुसुममञ्जरिकामधुपिञ्जरितदिगन्ते,
> स्मरघृणि किंशुकलग्नविरहिजनकालखण्डनिमकृन्ते ।।१
>
> विहरति पुरारिपुरिह मधुमासे ।
> रमयति सुररमणीरधिकं प्रतितरुकृतकुसुमविकासे ।। ध्रुवपदम्
> सरसिजपत्रनिहितमदनाऽऽसारनिकरोपमितमिलिन्दे ।
> कुण्ठितयुवतीहठकलकण्ठताऽऽहितहितयुववृन्दे ।।२
> विहरति ०।
> फुल्लतमालनिवहतिमिरापहकृतकुरुबकसुमदीपे ।
> केसरबकुलगन्धबन्धुरे हीनतविकुसुमनीपे ।। ३

प्रस्तुत काव्य में प्रणयबद्ध शिव-पार्वती के वियोग एवं संयोग की घटनाएं, आलम्बन, उद्दीपन के रूप में ऋतुवर्णन तथा शिव, गंगा, पार्वती और जया विजया दो सखियां ये पांच पात्र ही इस काव्य का समस्त कलेवर है। कवि ने अपने इस रागकाव्य के प्रत्येक गीत में मानव मन की विभिन्न भावनाएं बड़ी शिष्टता और सजगता के साथ प्रकट की है, ऐसे ही भावों से पूर्ण एक गीत का

१- गीतगिरीश - प्रथम सर्ग, पृष्ठ सं० ५।

कुछ अंश इस प्रकार है[१] --

> रम्यमेऽप्यनुगम्यसेऽपि च नम्यसेऽपि भवानि ।
> एहि देहि च दर्शनं कुरु चाटुकानि नवानि ।।५
>
> शिवशिव० ।
>
> क्वा सि हा हसिके विहासकशील लायपहाय ।
> बीक्षयोरसि हेमकुम्भनिभौ कुचौ विनिधाय ।। ६
>
> शिवशिव०
>
> यन्तुमर्हसि मन्तुमेतमुमे । न मे न कदापि ।
> एवमाचरिताऽस्मि मानिनि । दास एव सदाऽपि ।।७
>
> शिवशिव० ।

आशय यह है कि भगवान शंकर के गले से छिपटी गंगा को देखकर कुपित हुई जगन्माता पार्वती को प्रसन्न करने के लिये शिव अनुनय विनय कर रहे हैं । अपने इस गीत में कवि ने मर्मस्पर्शी, प्रसादगुणपूर्ण, प्रसंगानुकूल, संवादमूलक शब्दावली का प्रयोग किया है ।

अत: रामभट्ट का यह काव्य गीतकाव्य होने पर भी प्रबन्धकाव्य के सदृश इस काव्य का सम्पूर्ण कथानक एक शृंखला से आबद्ध है । पाठक को पढ़ते समय कथाभंग का तनिक भी आभास नहीं होता है, इसे कविकर्म की कुशलता और उसकी प्रतिभा की चरम परिणति कहना चाहिये । इसके लिये कवि ने मध्य-मध्य में कथायोजक सशक्त छन्दों का प्रयोग बहुत कुशलता से किया है । अन्य प्रबन्धकाव्यों के सदृश प्रस्तुत कृति अन्तर्द्वन्द्व तथा घटनाप्रधान होने पर भी भावुकता मूलक भाव प्रधान है । यही कारण है कि कभी-कभी कवि भावुकता के वशीभूत होकर उसमें इतना लीन हो जाता है कि उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता कि प्रस्तुत कृति जगन्माता पार्वती और जगत्पिता भगवान शंकर से

१- गीतगिरीश - तृतीय सर्ग, पृ० सं० १४ ।

सम्बन्धित है । इसके विपरीत कवि ने अधिकांश स्थल ऐसे चित्रित किये हैं जो कि साधारण नरकाव्य में पाये जाते हैं, अत्यन्त गतिशील एक अष्टपदी का कतिपय अंश इस प्रकार है[१]। यथा --

नन्दापुलिने मृगमदमलिने सुररमणीरमयन्तम् ।
पश्य गिमावैरीरितभावै रतिपतिमपि नमयन्तम् ।। १
अलकोपवने शीतलपवने विहरति सखि स कपर्दी ।
अरिकरिकुम्भविबुधवनिताजनपीनस्तनपरिमर्दी ।। ध्रुवपदम्
धवलं वसनं कृतविधुहसनं सितनिशि सखि । परिधेयम् ।
किंकिणिकाऽऽस्ये नवलास्ये मृगमदाव इह देयम् ।।३
सखि रतिकाले लास्यसि बाले । स्फटिकगिराविव शम्पा ।
पुरहरहृदये रतिरणविदये पुलकायितधृतकम्पा ।। ४

तात्पर्य यह है कि इसे भावना भावुकता का ही प्रभाव कहना उचित है, क्योंकि यहाँ कवि ने माता पार्वती को साधारण नायिका के समान चाँदनी रात में सफेद वस्त्र धारण करने का उपदेश दिया है तथा इसी के साथ उन्हें 'पुलकायितधृतकम्पा' विशेषण से अलंकृत करता है, यही नहीं कहीं-कहीं कवि ने माता पार्वती के वियोग में भगवान शंकर को नारी के वियोग में प्रलाप और विलाप करने वाले साधारण मानव के सदृश चित्रित किया है । इस प्रकार भगवान शंकर पार्वती के वियोग में इतने भाव विह्वल हो जाते हैं कि उन्हें[२] चेतन अचेतन पदार्थ का भी ज्ञान नहीं रहता । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है --

दिशपति स शयनम्दिशि दिशि नयन्नयति भवान्यविरामम् ।
श्वसितन्तनुते नर्म न मनुते ननु ते स्मरति निकामम् ।। १

१- गीतगिरीश - पंचमसर्ग, पृ० सं० २२, २३ ।

२- गीतगिरीश - पंचमसर्ग, पृ० सं० २५ ।

> वहति च कोऽहं दाणमिति मोहं वियदालिङ्गति बाले ।
> भ्रममयभवनीशतलता ऽ द्भुतभूमिमकाले ।। ३
> बहु हा ! एवं जपयति भावं जह इव भवति । कदाचित् ।
> सुरनरदानवनवललना न शिवं सखि ! सुलयति काचित् ।।५

आशय यह है कि इसमें वर्ण साम्य के कारण चन्द्रमा की किरणों में पार्वती का भ्रम होने लगता है, और वह उन्मत्त वियोगी पुरुष के सदृश विलाप करने लगते हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं तो ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं कि जहां दाण-मात्र में क्रोधाग्नि से कामदेव को भस्म करने वाले भगवान शंकर माता पार्वती के ऊपर इतना रीझ जाते हैं, और कहते हैं कि तुम्हीं मेरी सर्वस्व हो। अर्थात् यह कहकर सृष्टिसंहारक भगवान शिव अपने को पार्वती का भृत्य उद्घोषित कर देते हैं। इस प्रकार[१] यह कवि की कल्पनाशक्ति का अतिशय चमत्कार है। उदाहरण इस प्रकार है --

> मम मनोऽसि प्रिये । वदूरसि तनुरसि प्राणपञ्चकमसि च सत्यम् ।
> वदनमुन्नाम्य पीयूषरसवर्षिणा लोकनेन स्नपय भृत्यम् ।।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण में माता पार्वती के कजरारे सजल नेत्रों को देखकर भगवान शंकर को भ्रम होने लगता है कि कहीं चन्द्रमा रात्रि में अन्धकार पीकर उसे उगल तो नहीं रहा है। उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है[२] :--

> कज्जलश्यामलितमश्रुविलुतमिदं वहति सुमुखी दृगमुपयानम् ।
> आकलन्निशि तमिस्रन्निपीयाऽऽशु किं चन्द्र उद्गिरति तद्मानम् ।।

अत: यह कहा जा सकता है कि नैषधकार महाकवि हर्ष की क्लिष्ट

१- गीतिगिरीश - दशमसर्ग, पृ० सं० ३६

२- गीतगिरीश - दशमसर्ग, पृ० सं० ३६

कल्पनाओं के सदृश जटिल कल्पनाओं से पूर्ण इस लघुकाय रामकाव्य में एक नहीं अनेक स्थल हैं।

कवि नृपति रामभट्ट ने अपनी इस कृति में रोचकता लाने के लिये पौराणिक गाथाओं का भी प्रयोग किया है। पौराणिक जगत में यह प्रसिद्ध है कि विष्णु भगवान एक सहस्र पुष्पों से शिव भगवान को प्रसन्न करने के लिये प्रतिदिन पूजा अर्चा किया करते थे। संयोग से एक दिन एक कमल कम हो गया, इसका परिज्ञान भगवान विष्णु को पूजा के समय हुआ। पूजा स्थल से पुष्प-वाटिका भी दूर थी, इस कारण इतने कम समय में संख्या पूर्ति के लिये दूसरे पुष्प कमल की व्यवस्था नहीं हो सकती थी, विवश होकर शंकर के अनन्य भक्त भगवान विष्णु ने तत्क्षण अपना नेत्र कमल भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया। आशुतोष भगवान शंकर विष्णु के इस कार्य से अत्यन्त प्रसन्न हुए और तत्क्षण सुदर्शन चक्र विष्णु को भेंट कर दिया। जो आज भी तीन लोक की रक्षा करने के लिये भगवान विष्णु के हस्त में विराजमान है। इसी पौराणिक कथा पर आधारित एक अत्यन्त अनुप्राणित इस रामकाव्य का एक श्लोक इस प्रकार है[१] --

> उत्कीर्य स्वदृगन्नलेन सहसा सम्पूरयत्यच्युते,
>
> साहस्रं सकृदूनमम्बुजवलिं शम्भोः सपर्याऽर्थकम् ।
>
> आश्चर्यं यदमुदयामनसि तद्भूयोऽपि संवर्द्धयन्
>
> सद्यः श्रीशदृगर्पणात् दिशतु वः श्रीशङ्करः सम्पदम् ।।

अर्थात् इस श्लोक के अर्थ परिज्ञान के लिये पाठक को उपर्युक्त पौराणिक गाथाओं से पूर्णरूपेण परिचित होना आवश्यक है, इस पौराणिक ज्ञान के बिना इसका

१- नीलगिरीश - ६। ३, पृ० सं० ३८ ।

अर्थ समझना दुष्कर है । उपर्युक्त यह श्लोक भी पुष्पदन्तकृत 'महिम्नस्तोत्र' के एक श्लोक से प्रभावित है ।

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो -
र्यदेकोन तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेक: परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ।।[1]

कवि रामभट्ट का यह रागकाव्य समस्यापूर्ति की परम्परा से अछूता नहीं रहा है, उन्होंने कण्ठ-योजक छन्दों में बड़ी चतुरता से चामत्कारिक शैली में समस्यापूर्ति परम्परा का द्योतक छन्द निर्माण कर दिया । उदाहरण इस प्रकार है —

श्यामा त्वं वचसा ब्रवीषि मनसा श्यामञ्च मां सुन्दरि ।
श्यामा रात्रिरियन्निकुञ्जभवने श्यामन्तम: सर्वत: ।
श्यामन्तीरमिदन्तृणैर्घुसरित: श्यामास्तमालैर्दिश: ;
श्याम: कोऽपि रस: करोति मयि तद् शार्दूलविक्रीडितम् ।।[2]

आशय यह है कि कवि ने इस श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडितम्' को समस्या मानकर उसी छन्द में सौन्दर्यपूर्ण ढंग से समस्यापूर्ति का निर्वाह किया है । प्रस्तुत श्लोक कवि द्वारा कुशलतापूर्वक पुनरावृत्तिमूलक 'श्यामा' शब्द का प्रयोग पाठकों के मन में श्लोक पढ़ते समय अपूर्व आनन्द का सर्जन करता है ।

१- महिम्नस्तोत्र - श्लोक १६, पृ० सं० ८६ ।

२- गीतगिरीश - १० ।४, पृ० सं० ४० ।

(स) गीतगिरीशम् की काव्यात्मकता :-

(१) नायिका के विविध रूप --

रामभट्ट शृङ्गाररस के प्रमुख कवि हैं । शृङ्गाररस में विप्रलम्भ तथा उसके भेदोपभेदों के कुशल चितेरे हैं । जयदेव के गीतगोविन्द के सदृश इस रागकाव्य में भी उत्कण्ठिता, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, अभिसारिका आदि नायिकाओं और चिन्ता, मरण, व्याधि, आवेग असूया, दैन्य प्रभृति अनेक संचारियों के उदाहरण बहुत सरलता से प्राप्त हो जाते हैं । वात्स्यायन के कामसूत्र की शैली का कचाकर्षण, चुम्बन, रतिक्रीड़ा का भी वर्णन प्राप्त होता है । यही कारण है कि इसी के परिवेश में आकर कवि अत्यन्त विवेकहीन हो गया है, और उसे श्लीलता और अश्लीलता का अणुमात्र भी ध्यान नहीं रहता, यही कारण है कि उनके काव्य में कुछ अश्लील स्थल भी आ गये हैं । पार्वती और शंकर के सम्बन्ध में इस प्रकार का अश्लीलतापूर्ण चित्रण कवि को नहीं करना चाहिये था क्योंकि देवकाव्य और नराकाव्य में अन्तर होता है । रामभट्ट का यह काव्य देवकाव्य की कोटि में आता है । क्योंकि नरकाव्य के सदृश देवकाव्य में मर्यादाविहीन वर्णन नहीं किया जा सकता । संस्कृत भाषा के समस्त प्रहसन और भाण सामाजिक है, उसे नराकाव्य की विधा के अन्तर्गत माना जा सकता है, इस तरह की कृतियों में अश्लीलता आ जाय तो क्षन्तव्य है । यही कारण है कि संस्कृत के सारे प्रहसन और भाण प्राय: अश्लील है । सामाजिक होने के कारण आचार्यों ने उसे अनुचित नहीं माना है । जनसमाज के समक्ष सामाजिक दुर्बलता रखने के लिये साहित्यकार द्वारा यथार्थवादी चित्रण करना अपराध नहीं है । क्योंकि यथार्थवाद और अश्लीलता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, जहां यथार्थवाद है, वहां अश्लीलता और जहां अश्लीलता है वहां यथार्थवाद का अस्तित्व ध्रुव है । इस प्रकार का साहित्य आदर्शवादियों की दृष्टि और विचार में 'सुन्दरम्' से परे अवश्य रहेगा । इस रागकाव्य में 'सुन्दरम्' की अपेक्षा

सटकने वाली अश्लीलता पायी जाती है। उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है --

कलदलदलबिल्वरतरमङ्गमुपायनमुपनय मह्यम्।
मृदुनिधुवनमघुना विदधे मम साहसमिदमिह सह्यम्।।[१]

अत: यह स्थिति काव्य में कुछ ही स्थलों पर पायी जाती है, काव्य का अधिकांश भाग शृङ्गार रस से ओतप्रोत है।

(२) भाषा-शैली :—

भाषा प्रयोग की संस्कृत साहित्य में अपनी एक परम्परा है। संस्कृत भाषा के पूर्ववर्ती कवि वाल्मीकि, कालिदास, भास आदि की भाषा सरल, कृत्रिमता रहित तथा प्रसादगुण से पूर्ण है, किन्तु उत्तरवर्ती संस्कृत कवि भवभूति मुरारि, राजशेखर बाण श्रीहर्ष आदि कवियों की भाषा कलात्मक शब्द विन्यास तथा गौड़ी रीति की द्योतक पदावली से परिपूर्ण है। यह दोष इस रागकाव्य में भी है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उत्तरवर्ती कवियों की कृतियों के सदृश यह दुरुह है प्रत्युत इसके विपरीत इसके गीत माधुर्य-गुणपूर्ण तथा नरनारी के विभिन्न मनोगत भाव भंगिमाओं के चित्रण से ओतप्रोत है। इन भाव भंगिमाओं की अभिव्यक्ति करने के लिये कवि ने भगवान शंकर और माता पार्वती का अवलम्ब लिया है। यह काव्य कोमलकान्तपदावली से ओतप्रोत है, काव्य को पढ़ने से प्रतीत होता है कि कवि का भाषा पर असीम अधिकार है। यही कारण है कि प्रत्येक सर्ग का वर्णन पाठक के मन को रससिक्त कर देता है। क्योंकि किसी भी भाव की अभिव्यक्ति शक्ति कवि के पास प्रातिभ है।

प्रस्तुत काव्य के सभी गीत तथा कथायोजक समस्त छन्द समास-

१- गीतगिरीश - द्वादश सर्ग - पृ० सं० ५०।

युक्त तथा कहीं-कहीं असमस्त अलंकृत शैली में लिखे गये हैं, गीतों की तुलना में छन्दों में कवि ने समासयुक्त पदावली का प्रयोग कम किया है । अलंकृत शैली में लिखे होने के कारण इसकी भाषा प्रवाहपूर्ण, प्रांजल तथा प्रसादगुण मण्डित है । यही कारण है कि आलंकारिक कवियों की कलात्मक कृतियों के सदृश प्रस्तुत काव्य पाठकों के लिये दुरूह नहीं है । अत: स्पष्ट है कि इस काव्य में भाव और कलापक्ष दोनों ही स्थल पूर्णरूपेण मुखरित है ।

(३) छन्द-योजना --

कवि नृपति रामभट्ट मनोहारी गीत की रचना करने में जितने निपुण हैं, उससे कहीं अधिक प्रसिद्ध वृत्तों में सफलतापूर्वक श्लोकों के प्रणयन में भी सिद्धहस्त हैं । प्रस्तुत काव्य के गीतों के मध्य में प्रयुक्त कथा-योजक छन्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने अपने इस काव्य में नाना प्रकार के छन्दों का प्रयोग बड़ी दक्षता के साथ किया है । जिनमें 'मालभारिणी' जैसे अप्रसिद्ध वृत्त भी हैं । इन छन्दों की भाषा गीत की भाषा के सदृश अत्यन्त प्रौढ़ प्रांजल और परिमार्जित है । जिससे कवि का भाषा पर अटूट अधिकार तथा भाव के अनुरूप शब्दयोजना की अद्भुत प्रतिमा परिलक्षित होती है । भगवान शंकर के वियोग में खिन्न पार्वती के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक ढंग से सजीव चित्रण उपस्थित करने वाला एक छन्द इस प्रकार है । यथा --

> याति स्विद्यति सिद्यति प्रलपति प्रत्येति रोमाञ्चति,
> ध्यायत्यत्यय मूर्च्छति प्रपतति प्राप्यत्यनन्ताम्यति ।
> उच्चैर्नि:श्वसिति प्रमीलति पुन: सद्य:कम्पते सीत्कारो-
> त्येवं शर्वे । वियोगिनी न लभते का कामवश्यां शिवा ।।[१]

१- गीतगिरीश - ४।३, पृ० सं० १३ ।

आशय यह है कि सम्पूर्ण श्लोक क्रियाओं की चमत्कारी शैली के प्रयोग से सुसज्जित है, प्रस्तुत छन्द में कवि ने कितनी कुशलता से वियोगिनी पार्वती की आन्तरिक व्यथा की कथा तथा विभिन्न संचारी भावों के क्रिया-कलाप प्रत्येक सार्थक क्रियाओं के माध्यम से सांकेतिक भाषा में अभिव्यक्त किया है। यह अत्यन्त प्रशंसनीय और सराहनीय है, इस श्लोक से कवि का व्याकरणशास्त्र का पाण्डित्य भी स्पष्टरूपेण प्रकट होता है। इस प्रकार शब्दों को क्रिया रूप में परिणत करने की क्षमता श्रेष्ठ वैयाकरण के पास ही रहती है। क्रियाओं के चमत्कारी प्रयोग से पूर्ण इस तरह के श्लोक प्रस्तुत रामकाव्य में अनेक हैं। उदाहरणस्वरूप एक और श्लोक इस प्रकार है --

> त्रुटि: कल्पत्यल्पाभरणमपि भारत्यनलपि,
>
> प्रसन्न: शुभ्रांशुर्गरति घनसारद्रवलव: ।
>
> प्रसूनस्रक् सर्पत्यथ पिकरुतं कुन्तति मृदु,
>
> कुतो तस्या: शम्भो । शमय विरहाग्निन्नमभुव: ।।[1]

आशय यह है कि शिव के वियोग में विकल पार्वती को एक क्षण एक कल्प के समान प्रतीत होता है, उन्हें थोड़ा सा आभूषण भी भारस्वरूप प्रतीत होता है, चन्द्रमा की शीतल किरणें अग्नि के सदृश सन्तापकारी प्रतीत होती हैं, कपूर का अणुमात्र भी लेप विष की भांति, पुष्प की माला सांप की तरह ज्ञात होती है, तथा कोकिल की कोमल वाणी मर्मस्थल को बेधती है। ऐसी स्थिति में भगवान शंकर ही पार्वती के विरहाग्नि को शान्त कर सकते हैं।

कवि ने अपने इस काव्य में 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द का प्रयोग सबसे अधिक किया है। उसके बाद शिखरिणी छन्द का भी प्रयोग प्राप्त होता है।

१- गीतगिरीश - ४ । ५, पृ० सं० १८ ।

(४) अलंकार - योजना --

कवि नृपति रामभट्ट ने अपने इस काव्य में प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सभी अलंकार और शब्दालंकारों का प्रयोग स्थल स्थल पर किया है। अलंकारों में कवि को अर्थालंकार के सांगरूपक अलंकार के प्रति अत्यधिक आकर्षण एवं मोह है। अपने इस काव्य में इस अलंकार का प्रयोग कवि ने कई स्थलों पर बहुत सुन्दर ढंग से किया है। उदाहरण स्वरूप श्लोक इस प्रकार है। यथा --

> कैलानाऽग्निरसौ वियोगदहनो वेदी ममोर: पिको,
> होता यज्ववरो मधु: स शमिता काम: समित् केसरम्।
> उद्गाता मधुपोऽत्र चन्दनरस: सर्पि: शिवप्रीतिकृद-
> मत्प्राणै: पशुभिर्भविष्यति महायज्ञोऽनुधारातटे।[१]

आशय यह है कि पार्वती भगवान शिव के वियोग में इतनी अधिक व्याकुल और विह्वल हो गयी थी कि विवेकहीन होकर उन्हें रात-दिन रोना ही सूझता था, इसका परिणाम यह हुआ कि पार्वती के नयन से निरन्तर बहती हुई आंसू की धारा नदी रूप में परिणत हो गयी। यही कारण है कि कवि ने उस नदी के तट को सांगरूपक के सहारे पार्वती के प्राणों की आहुति देकर वैदिक महायज्ञ की कठिन परिकल्पना कर डाली है। अतएव प्रस्तुत श्लोक में कवि ने सांगरूपक अलंकार के प्रयोग के साथ अपने को पाठकों के समक्ष वैदिक यज्ञप्रक्रिया का मार्मिक ज्ञाता भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अन्यथा यज्ञों में प्रयुक्त कैलाग्नि, वेदी, होता, समित्, उद्गाता आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग काव्य में करना सभी कवियों के लिये सरल काम नहीं है। यह अत्यन्त श्रमसाध्य का ही परिणाम है।

इस अलंकार के एक दो उदाहरण और हैं, जिसमें कवि ने अपनी

१- गीतगिरीश - ७। ६, पृ० सं० ३१।

प्रतिभा के बल पर उमा की नासिका को दो नली बंदूक और उस पर विराजी मोती को उसकी गोली माना है । इस प्रकार कवि की कठिन कल्पना माध्य इस सूझ की प्रशंसा ही करनी चाहिये । उदाहरण इस प्रकार है --

पाशौ ते श्रवणावपाङ्गतरला दृग्भङ्गयस्ते शरा:
कोदण्डं भृकुटीयुगं गिरिसुते ! नासाऽपि ते नलिका ।
सीमन्तस्तव मल्ल एव च भवद्धम्मिल्लकोऽप्युल्लसन्,
सङ्गरं वदयसि तत्प्रसूनविशिखाऽनेका युवान्यैकिका ![1]

तथा--

उमानासानाली तदुपरितयुक्ता च गुलिका,
वियोगोष्णश्वासोऽप्यनलमिलनं यो मृगमद: ।
स एवाऽर्कं यस्माऽयसबलकविस्फोटनकारम्,
मनोहंस हंसि ! स्मर मम कथं न द्रुततरम् ![2]

अतएव निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कवि को अलंकारों में सांगरूपक अलंकार के प्रति अत्यधिक प्रेम था उसी प्रकार छन्दों में शार्दूलविक्रीडित छन्द के प्रति अत्यधिक स्नेह था ।

(५) शब्दगत वैशिष्ट्य —

रामभट्ट ने अपने इस काव्य में अपना शब्द-शास्त्रीय वैदुष्य प्रकट करने के लिये सौरि , हैमवती , नैत्य, भैक्ष , शारद,

---

१- गीतगिरीश - ३। २, पृ० सं० १४ ।

२- गीतगिरीश - ३। ५, पृ० सं० १५ ।

सौहृद जैसे तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग किया है । क्रमश: इनके उदाहरण इस प्रकार हैं —

१- <u>सौरी</u> -- चन्दनमपि तापयसि च तामति शरदि मुनिरिव सौरि ॥[1]

२- <u>हैमवती</u> -- हरविरहाकुलहैमवतीसुवबोऽस्तु मनस्यवदाते ॥[2]

३- <u>नैत्य</u> -- तत्प्रकटयति बहिर्गलनैत्यनिभेन क्षितिम्निबमंसम् ॥[3]

४- <u>बेह</u> -- न नतिशतैरपि तव सोऽपैति मनस्तव बेहम्यनिधानम् ॥[4]

५- <u>शारद</u> -- रविकराविस्फुरिताऽन्तरशारदमुदितमिव स्फुटशोभम् ॥[5]

इस प्रकार के तद्धितान्त प्रयोग से ज्ञात होता है कि रामभट्ट को व्याकरण शास्त्र का अच्छा ज्ञान था । यही कारण है कि कवि ने अपने इस रामकाव्य में व्याकरण प्रत्ययों से निर्मित शब्द और क्रियाओं का प्रयोग खूब जमकर किया है ।

१- गीतगिरीश - चतुर्थ सर्ग, पृ० सं० १६ ।
२- गीतगिरीश - चतुर्थ सर्ग, पृ० सं० १७ ।
३- गीतगिरीश - अष्टम सर्ग, पृ० सं० ३५ ।
४- गीतगिरीश - एकादश सर्ग, पृ० सं० ४३ ।
५- गीतगिरीश - एकादश सर्ग, पृ० सं० ४६ ।

सौहृद जैसे तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग किया है । क्रमशः इनके उदाहरण इस प्रकार हैं —

१- सौरी --

चन्दनमपि तापयति च तामति शरदि मुनिरिव सौरी ।।[1]

२- हैमवती --

हरविरहाकुलहैमवतीसुवचोऽस्तु मनस्यवदाते ।।[2]

३- नैल्य --

तत्प्रकटयति बहिर्गलनैल्यनिभेन शितिम्निवमंशम् ।।[3]

४- बैह --

न नलिशतैरपि तव सोऽपैति मनस्तव बैहम्यनिधानम् ।।[4]

५- शारद --

रविकाकिल्कुरिताऽन्तरशारदमुदितमिव स्फुटशोभम् ।।[5]

इस प्रकार के तद्धितान्त प्रयोग से ज्ञात होता है कि राममट्ट को व्याकरण शास्त्र का अच्छा ज्ञान था । यही कारण है कि कवि ने अपने इस रामकाव्य में व्याकरण प्रत्ययों से निर्मित शब्द और क्रियाओं का प्रयोग खूब जमकर किया है ।

१- गीतगिरीश - चतुर्थ सर्ग, पृ० सं० १६ ।

२- गीतगिरीश - चतुर्थ सर्ग, पृ० सं० १७ ।

३- गीतगिरीश - अष्टम सर्ग, पृ० सं० ३५ ।

४- गीतगिरीश - एकादश सर्ग, पृ० सं० ४३ ।

५- गीतगिरीश - एकादश सर्ग, पृ० सं० ४६ ।

इसी सन्दर्भ में व्याकरणशास्त्र के एक आचार्य भागुरि हुए हैं, उनके मतानुसार 'अवगाह: वगाह:, पिधानम् और अपिधानम्' दोनों प्रयोग-शास्त्रसंमत है । संस्कृत के वैयाकरणों ने 'अव्ययप्रकरण' में इसकी चर्चा की है ।

भागुरिमतम्

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो: ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा [१]

(अवगाह: । वगाह: । अपिधानम् । पिधानम् ।)

इस पद्धति के प्रयोग भी इस काव्य में पाये जाते हैं, यथा 'अवलम्बन' के स्थान पर कवि ने केवल 'वलम्बन' का प्रयोग किया है । उदाहरण इस प्रकार है :--

'कुचकलशवलम्बनशीलम् ।'[२]

इस प्रकार का प्रयोग प्राय: कविगण नहीं करते हैं, किन्तु फिर भी रामभट्ट ने अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने के लिये इस प्रकार के अप्रसिद्ध प्रयोग निर्भीकता के साथ किये हैं । इसी प्रकार कवि के अपने इस काव्य में कामशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक कामशास्त्रीय 'सुरत', 'लतावेष्टितम्', जैसे शब्द भी पाये जाते हैं, यही नहीं लेखक ने शिवजी के अर्थ में 'वृषभध्वज' के स्थान

१- लघुसिद्धान्तकौमुदी - अव्यय प्रकरण, पृ० सं० ३६६ ।

२- गीतगिरीश - द्वितीय सर्ग, पृ० सं० १२ ।

पर अप्रसिद्ध 'वृषध्वज'[१] तथा सोना के अर्थ में 'पुरट'[२] सरीखे अप्रचलित और अप्रसिद्ध शब्दों का भी प्रयोग पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये इस काव्य में अत्यधिक किया है ।

रामभट्ट कवि ने अपने इस काव्य में कहीं कहीं साधारण जन-समाज में प्रचलित लोकप्रिय कहावतों का भी प्रयोग खूब कुछ कर किया है । उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है --

ध्रौत वेति गतन्न वय: पुनरूनितमृदुकिरणाऽऽस्ये ।
भव भवमङ्गलानि कौमुदीमदहर मोहनहास्ये ।[३]

तथा --

स्वामधिचन्दनवनमिथमन्कृताऽऽश्वयतीव कुठव्यम् ।
दाणाकाणीये कर्माणि तरुणि । प्रकरिष्यसि न किमव्दम् ।।[४]

इसी सन्दर्भ में हिन्दी में एक कहावत है कि 'हाथी के दांत खाने के दूसरे और दिखाने के दूसरे' कवि ने अत्यन्त रोचक ढंग से इसे अपने काव्य में स्थान दिया

१- विहरन्तीषु रतिप्रतिबिम्बतनूषु वृषध्वजचित्तम् ।
- गीतगिरीश, प्रथमसर्ग, पृ० सं० ७

२- पुरटरशनापि त्युक्त: श्रीहरोऽपि तथाऽकरोत् ।
- गीतगिरीश - १२ । ६, पृ० सं० ५३

३- गीतगिरीश - पञ्चमसर्ग, पृ० सं० २१ ।

४- गीतगिरीश - एकादश सर्ग, पृ० सं० ४३ ।

दिया है । उदाहरण इस प्रकार है --

अनुकलमनुरागन्तस्य दूति । बुबोध्य -
प्रकटकपटमस्य त्वन्न बानासि नूनम् ।
बहिरिह करिणो यान् दर्शयन्ति स्वदन्तान्
भवति खलु ततोऽन्या चर्वणार्थे रदाली ।।[1]

[द] गीतगिरीशम् रामकाव्य में संगीतयोजना --

प्रस्तुत रामकाव्य में १२ सर्ग हैं । जयदेव के गीतगोविन्द के समान प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने भी प्रत्येक सर्ग का नामकरण किया है । प्रथम सर्ग वसन्तविलासो, द्वितीय सर्ग मानिनी-मनोरथ, तृतीय सर्ग उत्कण्ठितशितिकण्ठो, चतुर्थसर्ग गौरीगुरुतरानुरागो, पञ्चम सर्ग, वयस्यारहस्योक्ति, षष्ठ सर्ग दुर्दशानिर्देशो, सप्तम सर्ग प्रतियुवतिरति-वर्णनो, अष्टमसर्ग शम्भुपालम्भो, नवमसर्ग पार्वती प्रवर्त्तो, दशमसर्ग सरसगिरिशो, एकादशसर्ग नि:शङ्कशङ्करदर्शनो, तथा द्वादशसर्ग का नाम सुप्रीतपार्वतीपति है ।

प्रस्तुत रामकाव्य में मात्रावृत्तों में रचित गीत संगीत से परिपूर्ण है । प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट रागों में की गयी है । प्रत्येक गीत आठ पदों के हैं, यही नहीं प्रत्येक गीत में ध्रुवपद का भी प्रयोग हुआ है, जोकि संगीत शास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है । गीतगिरीश रामकाव्य में मालव, वसन्त, कर्णाट, केदार, रामगिरि आदि रागों का प्रयोग हुआ है ।

१- गीतगिरीश - ७ । ११, पृ० सं० ३४ ।

उदाहरणस्वरूप गीत इस प्रकार है[1] --

सरसरसालकुसुमम्बरिकामधुपिकबरितदिगन्ते,

स्मरसृणि किंशुकलग्नविरहिजनकाळखण्डनिभवृन्ते । १

विहरति पुरारिरिह मधुमासे ।

रमयति सुररमणीरधिकं प्रतितरुकृतकुसुमविकासे ।।ध्रुवपदम्

सरसिजपत्र निहितमदनाऽक्षरनिकरोपमित मिलिन्दे ।

कुण्ठितयुवतीदृढकलकण्ठाऽहितहितयुववृन्दे ।। २

विहरति० ।

कुसुमशरस्मिततुल्यमल्लिका सत्रागदक्षिणवाते ।

विपिन समुद्गततिलकतिलकद्रुमसूनवनितवनशाते ।। ३

विहरति० ।

अल्पतहिमकल्पितजनशर्मणि सरसीलसदरविन्दे ।

कोकिलरवनिकरोकिलकोकिलकोकिलपरमाऽऽनन्दे ।।४

विहरति० ।

विरहिमुककवारयितकेतकमुकुलकृतबहुरजोनिधाने ।

अरुणाऽशोककुसुममयमदनज्वलदनलाऽऽत्रविताने ।। ५

विहरति० ।

१- गीतगिरीश - प्रथमसर्ग, पृ० सं० ५, ६ ।

फुल्लमालनिवहतिमिरापहकृतकुरबकसुमदीपे ।

केसरबकुलगन्धबन्धुरे हीनतविकुसुमनीपे ।। ६

विहरति ० ।

ललनागलवलयितभुजमुन्मदमदनप्रमितभुजङ्गे ।

दुस्सहविरहदहनविनिपातितपुरनारपणिकपतङ्गे ।। ७

विहरति ० ।

श्रीकविरामकथितमधुमाधवसमयसदृशवनकम्पम् ।

शमयतु कलिशमलं सुरपरिवृढवरदातेरनुकम्पम् ।। ८

विहरति० ।

इस प्रकार उपर्युक्त गीत वसन्त राग में है । इसी प्रकार गीत-गिरीश के 'नन्दापुलिने मृगमदमलिने सुररमणीरमयन्तम्' गीत 'मालवगौड़ी राग' तथा 'दिनपति स शयनान्दिशि दिशि नयन्नयति भवान्यविरामम्' आदि गीत आभेरी राग में है । इसी प्रकार अन्य गीत भी रागों में निबद्ध है ।

इस प्रकार अन्त में यह कह सकते हैं कि रामभट्ट की यह सफल कृति है, तथा पीयूषवर्षी जयदेव के गीतगोविन्द के सदृश एक दिन यह कृति भी सम्मान का पात्र हो जायेगी । ऐसा पूर्ण विश्वास है ।

(ख) जयदेव विरचित रामगीतगोविन्दम् —

प्रस्तुत 'रामगीतगोविन्द' रागकाव्य जयदेव के गीतगोविन्द काव्य की परम्परा में लिखित संस्कृत का सरस रागकाव्य है । इसके रचयिता का नाम भी जयदेव ही है । इस काव्य के टीकाकार श्री हनुमान त्रिपाठी हैं ।

[क] रामगीतगोविन्द के रचयिता एवं रचनाकाल : —

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान आफ्रेक्ट ने अपने 'कैटलागस कैटलागारम्' में जयदेव नाम के १५ ग्रन्थकारों की चर्चा की है । प्रस्तुत कृति को आफ्रेक्ट ने गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव की रचना के रूप में 'प्रश्नवाची चिह्न' के साथ उल्लेख किया है, इस कारण प्रस्तुत रागकाव्य इन १५ जयदेव ग्रन्थकारों में से ही किसी की रचना हो सकती है । प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने छठे सर्ग में अपने निवास स्थान का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि ये मिथिला के निवासी थे । उदाहरण इस प्रकार है --

'श्रीमद्विदेहनृपदेशविशेषवासी,
निःशेषभूमिपतिमण्डलमाननीयः ।
एतच्चकार वरगानरसप्रधानं,
काव्यं कविप्रकरमौलिविभूषणं सत् ।'

'वाल्मीकिनाऽऽद्यकविना शतकोटिसङ्ख्यं,
रामायणं विरचितं शशिमौलिना च ।
काकेन वायुतनयेन तथा परेण,
किञ्चित्करोति जयदेवकविश्चरित्रम् ।।'[1]

१- रामगीतगोविन्द, - ६।४, पृ० सं० १०४, १।३, पृ० सं० ३ ।

प्रस्तुत कृति के निर्माणकाल और राजा के नाम का उल्लेख संस्कृत के अन्य लेखकों के समान इस काव्य में नहीं हुआ है । इस प्रकार लेखक का जन्म-स्थान मिथिला है, यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है, परन्तु कृति के निर्माण-काल और उसी के सहारे कृतिकार का जन्मकाल केवल अनुमान प्रमाण के आधार पर निश्चित होता है । प्रस्तुत कृति के रचयिता जयदेव ने अपने काव्य के प्रथम सर्ग में अध्यात्मरामायण, काकभुशुंडिरामायण और हनुमान्नाटक की चर्चा की है ; इससे यह सिद्ध होता है कि यह रचना १४वीं शताब्दी से पूर्व किसी स्थिति में नहीं हो सकती, इसका कारण यह है कि भारतीय विद्वान् अध्यात्मरामायण का रचनाकाल १४०० से १६०० ई० के मध्य स्वीकार करते हैं।[१] इससे निर्विवाद यह सिद्ध हो जाता है कि यह कृति १२वीं शताब्दी में उत्पन्न बंगीय नृपति लक्ष्मणसेन के सभाकवि 'गीतगोविन्द' के प्रणेता जयदेव की नहीं हो सकती । जर्मन विद्वान आफ्रेक्ट को केवल नामसाम्य के कारण 'गीतगोविन्दकार' जयदेव की यह कृति है, ऐसा भ्रम हुआ होगा । इसी सन्दर्भ में मिथिलावादी एक भारतीय विद्वान प्रसन्नराघव और चन्द्रालोक के लेखक जयदेव की ही रचना 'रामगीतगोविन्द' को भी मानते हैं।[२] प्रसन्नराघव के कर्ता मिथिला प्रदेशवासी

१- पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अध्यात्मरामायण को उपपुराण और तुलनात्मक दृष्टि से नवीन रचना कहा है । डा० भांडारकर ने मराठी सन्त एकनाथ के साक्ष्य पर इसे एक आधुनिक रचना १४०० से १६०० ई० के बीच माना है । डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव लिखित - 'रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ सं० १४३ ।

२- समालोचकै: सर्वेरपेक्षितो यं महाकवि: चन्द्रालोक रामगीतगोविन्दप्रसन्न-राघवेति ग्रन्थत्रयं विरच्य विशेषभूमिमुपलिप्सणलमाननीयो बभूव इत्येवं मन्यतम् । (आरा से प्रकाशित संस्कृत पत्र 'भागवतम्' में चतुर्थांक में आचार्य कमलाकान्त उपाध्याय का 'गीतपरम्परायां रामगीतगोविन्दम्' शीर्षक लेख) ।
कामेश्वर रिफाई बाई -रामगीतगोविन्द की भूमिका, पृ० सं० ३।

से अथवा विदर्भवासी इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, परन्तु दूसरे विद्वान प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र का दूसरा नाम जयदेव मानकर उसे ही प्रसन्नराघव का रचयिता मानते हैं तथा चन्द्रालोक का लेखक किसी अन्य जयदेव को स्वीकार करते हैं।[1] डा० कीथ प्रसन्नराघवकार जयदेव को विदर्भ देश के कुंडिनपुर का निवासी स्वीकार करते हैं।[2] जिसका आधार कदाचित् प्रसन्नराघव का यह छन्द इस प्रकार है —

> कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो ।
> रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ।।[3]

इस प्रकार इन सभी मतों के परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कृति 'रामगीतगोविन्द' नाटककार जयदेव की न होकर सबसे भिन्न मिथिला प्रदेशवासी किसी अन्य रामभक्त जयदेव की है। यही नहीं शैली की दृष्टि से भी अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि नाटककार जयदेव इस कृति

१- चत्वारः श्री जयदेवाः, मुकुटव्याख्यातछन्दःशास्त्रपुस्तकप्रणेता अभिनवगुप्तपादैः स्मृतः एकः। पीयूषवर्षोपाधिकः चन्द्रालोककर्ता द्वितीयः। बंगवासी प्रसिद्ध गीतगोविन्दगायकस्तृतीयः। प्रसन्नराघवनाटकप्रणेता चिन्तामण्यालोकदर्शनग्रन्थकर्ता च सौदपुरिय दिगौनवंशाम्बुनिधिरीति-मानुमिथिलावासी पक्षधरमिश्रापरनामा चतुर्थः।
("श्री रामचन्द्र मिश्र लिखित प्रसन्न राघवनाटक की भूमिका से उद्धृत", पृ० सं० २, ३)।

२- संस्कृत नाटक : डा० उदयभानुसिंह का हिन्दी अनुवाद, पृ० सं० २५७, २५८।

३- प्रसन्नराघव नाटक - प्रथम अंक, श्लोक १४, पृ० सं० १४।

के रचयिता नहीं हो सकते । प्रसन्नराघव नाटक में गद्य और पद्य दोनों की भाषा पदावली अत्यन्त अलंकृत और यत्र-तत्र आडम्बरपूर्ण भी है, जबकि इसके विपरीत प्रस्तुत कृति में गीत एवं छन्द दोनों की ही भाषा सर्वथा सरल, सरस तथा सुबोध है ।

अब 'रामगीतगोविन्द' के रचनाकाल का प्रश्न उपस्थित होता है । यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कवि का जन्म स्थान मिथिला था, तथा उससे यह ज्ञात होता है कि कवि की सामाजिक स्थिति बहुत आदरणीय रही है और कवि तत्कालीन राजाओं के दरबार में सम्मानित था । परन्तु काव्य का अनुशीलन और अध्ययन करने पर उस कृति के रचनाकाल के सन्दर्भ में कोई प्रामाणिक सामग्री का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है । अत: ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत के अन्य कवियों के समान इस कृतिकार के सम्बन्ध में भी अनुमान का आश्रय लेना पड़ेगा । यह तो सर्वविदित है कि प्रस्तुत कृति जयदेव के गीतगोविन्द की परम्परा में लिखित होने पर भी उसके सदृश अथवा कालिदास के कुमारसम्भव के समान प्रस्तुत कृति में मर्यादाविहीन शृङ्गाररस का प्रयोग नहीं हुआ है । रामगीतगोविन्द के रचयिता जयदेव ने अपने इस काव्य में कहीं भी जयदेव की राधा की तरह माता सीता के सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया, यही कारण है कि प्रस्तुत कृति में कवि के नाम के साथ रामभक्त विशेषण का प्रयोग हुआ है । अत: सम्पूर्ण काव्य का अनुशीलन करने के पश्चात कवि का हृदय राम के प्रति पवित्र श्रद्धामूलक भक्ति से ओत-प्रोत प्रतीत होता है । इसके विपरीत संस्कृत साहित्य के अन्य काव्यों में मर्यादा-विहीन शृङ्गाररस का वर्णन प्राप्त होता है । उदाहरण स्वरूप ६ वीं शताब्दी में संस्कृत के कवि कुमारदास ने कालिदास के कुमारसम्भव से प्रभावित होकर अपने 'जानकीहरण' महाकाव्य में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का और माता सीता से सम्बन्धित संयोग शृङ्गार का वर्णन किया है । यथा —

स्वं नितम्बमपवाहितांशुकं कामिनी रहसि पश्यति प्रिये ।

प्रार्थनामपि किंव पल्लवस्निग्ध रागमधुरं स्वयं ददौ ।।

सा मदेन मदनेन लज्जया माधवेन च विमिश्रचेष्टिता ।

आययौ झपदि तादृशीं दशां या न वक्तुमपि शक्यविभ्रमा ।।[1]

इसी प्रकार १५वीं शताब्दी के पश्चात कुछ रामभक्तों ने रामसीता के चरित में रासलीला की परिकल्पना कर डाली है, इसका कारण जनसमाज में कृष्ण की रासलीला का लोकप्रिय होना ही कहा जा सकता है । उदाहरण-स्वरूप हनुमत संहिता, लोमश संहिता, भुशुंडि रामायण और रामतत्वप्रकाश आदि ग्रन्थों की रचना का उद्देश्य भी कदाचित राम सीता की रासलीला का ऐतिहासिक और प्रामाणिक परिवेश प्रस्तुत करना रहा है । इन ग्रन्थों के रचयिताओं ने अपना नाम न उल्लेख कर इन्हें ऋषि तथा मुनि प्रणीत बताया है ।

इस प्रकार भुशुंडिरामायण की प्रस्तावना में वाल्मीकि के अनुधारी राम का मर्यादा से परे सरयू नदी के किनारे तथा उसके पार स्थित कामिका और वनवास के समय चित्रकूट में रासलीला करने वाले श्रृंगारिक रूप का चित्रण है । यथा --

एकान्ते सरयू तीरे कल्पं पादपकानने ।

श्रीमान नटवरवपु: कोटिकन्दर्पसुन्दर: ।।

रासलीलां पुरश्च ताभिर्विस्तरगो विभु: ।।[2]

१- जानकीहरण - अष्टम सर्ग, श्लोक १७, १८, पृ० सं० ६४,६५ ।

२- मथुराचार्यकृत रामतत्वप्रकाश, भुशुण्डिरामायण की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ० सं० ४६ ।

अत: संस्कृत साहित्य में भगवान राम के ऐसे श्रृङ्गारिक स्वरूप के चित्रण का परम्परा के पूर्णत: पल्लवित हो जाने पर भी इसी काल में उत्पन्न महाकवि तुलसीदास इन कवियों के अमर्यादित श्रृङ्गारिक वर्णन से प्रभावित नहीं हुए। रामचरितमानस में राम का स्वरूप लोकरक्षक, अन्याय और अनीति के प्रति संघर्ष करने वाले, जगन्नियन्ता का है। यही कारण है कि राम के इस प्रकार के श्रृङ्गारिक स्वरूप वर्णन की परम्परा से प्रभावित होकर भी प्रस्तुत कृति 'रामगीतगोविन्द' के लेखक श्री जयदेव इस प्रकार के वर्णन से सर्वथा अछूते हैं। अत: इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कृति पर महाकवि तुलसीदास द्वारा वर्णित रामचरितमानस का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि प्रस्तुत कृति 'रामगीतगोविन्दम्' में कहीं भी जगज्जननी सीता का सौन्दर्य वर्णन श्रृङ्गाररस से ओतप्रोत नहीं मिलता है। मानसकार के ही समान 'रामगीतगोविन्दम्' के रचयिता ने भी इस प्रकार उल्लेख किया है।[1] यथा --

वाल्मीकिनायककविना शतकोटिसंख्यम्
रामायणं विरचितं शशिमौलिना च ।।

१- रामगीतगोविन्द - प्रथमसर्ग, श्लोक ३, पृ० सं० ३ ।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।।
स्वान्त: सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति ।।

- रामचरितमानस, बालकाण्ड, श्लोक ७, पृ० सं० २ ।

काकेन वायुतनयेन तथा परेण

किञ्चित् करोति यदेवकविश्चरित्रम् ।।

इसी प्रकार कई स्थलों पर रामचरितमानस से भी इस कृति का साम्य दृष्टिगोचर होता है । यथा —

एकदा रघुपतिर्महागिरौ सीतया सह शिलातलेऽमले ।

निद्रितोऽभवदुदारविक्रमः शक्रसूनुरमन्तुलगाकृतिः ।।

विददार पदाङ्गुष्ठमैन्द्रिः काकपरीतया ।

ईषिकास्त्रेण रामोऽपि काणं चक्रे दुरात्मनः ।।[1]

तुलसीदास ने रामचरितमानस का प्रारम्भ विक्रमीय संवत् १६३१ तदनुसार १५७४ ई० में किया ।[2] अतः तुलसीदास का प्रादुर्भाव १६वीं शती का पूर्वभाग माना जाता है इसलिये प्रस्तुत कृति का रचनाकाल १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् १६२५ से १६५० में किसी समय मानना असंगत नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत कतिपय विद्वान के मत में तुलसीदास ही रामगीतगोविन्दम् से प्रभावित रहे, तथा

१- रामगीतगोविन्द - ४।२,३, पृ० सं० ७३ ।

सीतहिं पहिराये प्रभु सादर । बैठे फटिक शिला पर सुन्दर ।।

सीता चरन चोंच हति भागा । मूढ़ मन्द मति कारन कागा ।।

- रामचरितमानस - ३।१, पृ० सं० ६८६ ।

२- संवत् सोरह से एकतीसा । करउं कथा हरिपद धरि सीसा ।।

नौमी भौमवार मधुमासा । अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ।।

- रामचरितमानस - १।३४, पृ० सं० ४६ ।

उन्होंने रामगीतगोविन्दम् का अनुकरण तक किया है । अतः अकाट्य प्रमाणों के अभाव में इस मत का खण्डन भी सम्भव नहीं है । इस प्रकार तुलसीदास पर रामगीतगोविन्दम् का प्रभाव रहा अथवा जयदेव पर रामचरितमानस का, इस विषय में कुछ कहना संगत नहीं प्रतीत होता है, किन्तु फिर भी यदि राम-गीतगोविन्दम् का रामचरितमानस पर प्रभाव मान लिया जाय तो जयदेव का जन्मकाल १५ वीं शती का तृतीय चरण और रामगीतगोविन्दम् का रचनाकाल १६वीं शती का पूर्व चरण माना जा सकता है ।

(ब) रामगीतगोविन्द की विषयवस्तु --

रामगीतगोविन्दकार की प्रस्तुत कृति में कुल ६ सर्ग हैं । सम्पूर्ण काव्य मर्यादापुरुषोत्तम राम के ओजस्वी चरित से ओत-प्रोत है । सर्वप्रथम कवि ने अपने काव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया है, तत्पश्चात आदिकवि वाल्मीकि का स्मरण कर सीधी, सामान्य एवं सरल भाषा में भगवान् राम के दशावतार का वर्णन कवि ने 'जय जय राम हरे' के मधुर लय में एक गीत के द्वारा किया है । जयदेव के द्वारा रचित इस गीत से पाठकों के समक्ष भगवान् के दशावतार का दिव्य स्वरूप मूर्तिमान हो उठता है । यही कारण है कि जयदेव के इस गीत के एक अंश में अनीतिकारी शासकों के प्रति आक्रोश की अभिव्यक्ति है । यथा --

यवनविदारण । दारुण । हयवाहन । ए ।
धृतकरवाल । कराल । जय जय राम । हरे ।[1]

१- रामगीतगोविन्द - १।१०, पृ० सं० ८ ।

आशय यह है कि इस गीतांश में भगवान के लिये दशमविदारण, हयवाहन धृतकरवाल सम्बोधन से प्रतीत होता है कि तत्कालीन अत्याचारी शासकों से प्रपीड़ित जनता की रक्षा के लिये कवि भगवान से करवालधारी पौरुष-पूर्ण रूप धारण करने की प्रार्थना करता है।

इस प्रकार ओजस्वी शैली में दशावतार का वर्णन करने के पश्चात रामगीतगोविन्दकार जयदेव ने अत्यन्त दक्षता से एक श्लोक में समस्त रामायण का कथानक सांकेतिक शैली में उपस्थित कर दिया है। यथा --

धारमंजन भवाब्धिवरिष्ठपोत।

मां पाहि कान्त:। करुणाकर। दीनबन्धो।।

श्रीरामचन्द्र। रघुपुंगव। रावणारि।,

राजाधिराज। रघुनंदन। राघवेश।।[१]

इस प्रकार रामगीतगोविन्दकार जयदेव ने इस श्लोक द्वारा बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक की सम्पूर्ण कथा अत्यन्त संक्षेप में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दी है। प्रस्तुत इस श्लोक में सम्बोधनात्मक शब्द के सहारे रामायण की सम्पूर्ण कथा की अवतारणा जयदेव के सदृश प्रतिभाशाली कवि ही कर सकता है।

जयदेव ने अपने इस काव्य में मिथिलापुरी का बहुत ही मनोज्ञ वर्णन किया है। उन्होंने अपनी मिथिलापुरी के लता, वापी, तड़ाग, कूप

१- रामगीतगोविन्द - १।५, पृ० सं० ६।

आदि का मनोहारी स्वरूप चित्रण के प्रसंग में अपनी मिथिला को कर्मनिष्ठ सुशील एवं बुद्धिजीवी पंडितों की भी नगरी है ऐसा भी उल्लेख किया है[1]। यथा —

जयति विदेहनगरमनुरूपम् ।
दिशि दिशि राजमानचामीकर-
रचितविविध मणियूपम् ॥ १ ध्रुवपदम्
रुचिरलतावरसुमनवाटिकावापीकूपतडागम् ।
वप्रवलयपरिखाकृतमभिनवविभ्रमुदयदनुरागम् ॥ २
शैलभव्यशृङ्करवेशनृपतिदुर्वहे महेशपिनाकम् ।
मणिमयसौधसमूहसमुद्गमरुच्छविशद पताकम् ॥ ३
तोरणनिकरकिरणसञ्चारविनिन्दितसुरपतिचापम् ।
आकुलितमन्थवलितमलवृन्दविकूर्णितसकलजनपापम् ॥ ४
गजरथतुरगपदातिविघट्टितविशृङ्खलसङ्कुलमुदारम् ।
शारदविधुसंकाशविकाशकनककलशाञ्चितताराम् ॥ ५
पण्डितसुमतिसुशीलसुवर्णसुकर्मिमनुजपरिवारम् ।
पतिपदपद्मनिहितनिजचित्ततुरासुन्दरपुरदारम् ॥ ६
सुखदवितानमनेकपोतमणिभूषितमतिशयशोभम् ।
पङ्कजयोनिविनिर्मितमिव कृतसन्ततमानसलोभम् ॥७

१- रामगीतगोविन्द - द्वितीय सर्ग, सातवा गीत, पृ० सं० ३३, ३४, ३५ व ३६ ।

श्रीजयदेवकविरचितं मिथिलापुरगीतयशोम् ।

मङ्गलमोदभरेण करोतु सदा मुदितं जनलोकम् ।। ८

इस प्रकार काव्य-प्रतिभा धनी कवि का स्थान विशेष अथवा पात्र का स्वरूप चित्रण नितान्त सहज प्रतीत होता है । इसी प्रकार एक प्रसंग में उल्लेख है कि भगवान शंकर का धनुष भंग हो चुका है । इस घटना से अपने इष्टदेव के धनुषभंग से रुष्ट शरचाप और तीव्रतर धार वाले भयंकर कुठार धारण किये, क्रोधावेश में ओठों को चबाते हुए परशुराम के रौद्र रूप का चित्रण जयदेव ने अपने ज्योतिषशास्त्र के पाण्डित्यपूर्ण उपमाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है ।[१] यथा --

भृकुटीकुटिलभरुणावदनं रदखण्डितरदपरिधानम्

दधतमिव भूमणिं शशिनं सबुधं शशिनं कृतमानम् ।। २।।

रुचिरजटामुकुटद्युतिपुञ्जविभाशिमनोहरमालम् ।

पाणिसरोजनिषितशरचापकुठारमतीव करालम् ।।३।।

रामगीतगोविन्दकार जयदेव ने एक गीत में प्रयाग का अत्यन्त आकर्षक एवं मनोहारी चित्रण किया है । यथा --

पश्य पश्य रघुवीर । प्रयागम् ।

मज्जदखिलमुनिगणमतिरामम् ,

१- रामगीतगोविन्द - द्वितीयसर्ग, आठवां गीत, पृ० सं० ३६ ।

नीलपीतसित चित्रपताकम् ।

सुललमृदुशिथिलीकृतनाकम् ।।[१]

आशय यह है कि कवि ने इस प्रसंग में त्रिवेणी तट पर फहराती रंग बिरंगी पताकाओं का भी चित्रण किया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि त्रिवेणी स्नान करने के लिये प्रयाग आया था । यही कारण है कि आजकल के समान तत्कालीन गंगापुत्रों की चित्र-विचित्र विभिन्न रंग की पताकाएं फहराती रही है, और उसके इस दृश्य का चित्र उपस्थित हो जाता है ।

इसी प्रकार कवि ने अपने इस काव्य में चित्रकूट का भी वर्णन अत्यन्त मनोयोग के साथ किया है । समस्त काव्य में चित्रकूट का यह वर्णन सहज ही जनमानस के हृदय को आकृष्ट कर लेता है । अत: इसे सर्वोत्कृष्ट वर्णन कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी । रामगीतगोविन्दकार जयदेव ने अपनी जन्मभूमि मिथिला का भी इतना रुचिर वर्णन नहीं किया जितना कि चित्रकूट का किया है । उदाहरणस्वरूप --

चित्रकूटमवलोकय सीते ।

उन्नतशिखरलिखित घनमण्डलमङ्गलकरण विनीते ।।१ ध्रुवपदम् ।

मन्दाकिनीप्रवाहविलंघनचंचलपदमरालम् ।

विकसितकुन्दलवंगलतावलीसरसीरुहमालम् ।। २।।

जम्बूकदम्बतमालमुनिद्रुमभूषितभागम् ।

वैरिविहीनमतंगजसिंहमयूरमृगाविषनागम् ।। ३

१- रामगीतगोविन्द - तृतीय सर्ग, १४ वां गीत, पृ० सं० ६६ ।

गवयशरभहरिणीहरिणादककपिकुलविपुलविहारम् ।

इन्धनदलफलकुसुमदर्भबलदेतुकमुनिसंचारम् ।। ५

श्रीजयदेवमहाकविनिर्मितमद्भुतमधुरगीतम् ।

हरतु मल सकलं पठतामनिशं प्रकरोतु विनीतम्[1] ।। ८

प्रस्तुत गीत में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस गीत में कवि ने महाकवि इस विशेषण का भी प्रयोग किया है । चित्रकूट का यह वर्णन पढ़ते समय निसर्ग दृश्य उपस्थित कर देता है ।

इस प्रकार रामगीतगोविन्दकार जयदेव का यह सम्पूर्ण राग-काव्य इसी प्रकार के मनोहारी गीतों से परिपूर्ण है । इनके गीतों में समासित पदावली का प्रयोग होने पर भी पाठकों को अध्ययन के समय पद-पद पर माधुर्य की अनुभूति होती है । गीतों के अर्थ-बोध के लिये पाठकगण को कहीं भी बुद्धि व्यायाम की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है । तात्पर्य यह है, जयदेव के सरस गीत को पढ़ते ही पाठकगण भावविभोर हो जाया करते हैं । यह उनके काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है जो कि उनके काव्य में सर्वत्र परिलक्षित होती है ।

(स) गीतगोविन्दकार जयदेव और रामगीतगोविन्दकार जयदेव :
एक तुलनात्मक दृष्टि :--

प्रस्तुत 'रामगीतगोविन्द' रामकाव्य

१- रामगीतगोविन्द - चतुर्थ सर्ग, १५वां गीत, पृ० सं० ७०, ७१, ७२ व ७३ ।

जयदेव के गीतगोविन्द परम्परा में लिखा गया सरस रामकाव्य है । रामगीत-गोविन्दकार जयदेव ने इस रचना का प्रयोजन प्रारम्भ में उद्घोषित किया है । यथा --

यदि रामपदाम्बुजे रतिर्यदि वा काव्यकलासु कौतुकम् ।
पठनीयमिदं तदोजसा रुचिरं श्रीजयदेवनिर्मितम् ॥[1]

गीतगोविन्दकार जयदेव ने भी इसी प्रकार अपने काव्य के प्रारम्भ में उल्लेख किया है जो निम्न है --

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावली शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ॥[2]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थकारों के प्रणय प्रयोजन में एकरूपता होने पर भी उद्देश्य भिन्न है । पीयूषवर्षी जयदेव का गीतगोविन्द रामकाव्य विलासीजनों मनोरंजन के लिये है तथा रामगीतगोविन्दम् का लेखन काव्यकला प्रेमियों के लिये है । यही कारण है कि गीतगोविन्द में जिस स्थल पर जयदेव ने 'विलास-कलासु कुतूहलम्' का उल्लेख किया है वहीं रामगीतगोविन्दम् के जयदेव ने 'काव्य-कलासु' लिखना समीचीन समझा था ।

'गीतगोविन्दकार' जयदेव के 'विलासकलासुकुतूहलम्' लिखने का अर्थ और उद्देश्य विभिन्न टीकाकारों के व्याख्याओं के मत से स्पष्ट होता है । संजीवनीकार वनमाली भट्ट, पदद्योतनिका के लेखक नारायण पंडित, जयन्ती टीका के कर्ता कृष्ण जी, रसिकप्रिया के रचयिता कुम्भनृपति, रसमंजरी प्रणेता

१- रामगीतगोविन्द - १। ४, पृ० सं० ३ ।

२- [illegible] गीतगोविन्द - १। ३,

प्रसिद्ध नैयायिक महामहोपाध्याय शंकर मिश्र आदि सभी टीकाकारों ने इस पद की व्याख्या अपने-अपने रीति से की है । क्रमश: इस प्रकार है --

संजीवनीकार वनमाली भट्ट के अनुसार[1] — विलास: स्त्रीणां प्रतिलिपि-केशापोहङ्गस्पर्शनगोष्ठी च रतिकोशोक्तास्तस्य कलासु चतुष्षष्टिक्रीडासु कुतूहलम् कौतुकम ।

पदद्योतनिका के लेखक नारायण पंडित के अनुसार[2] — विलासकला चतुष्षष्टि: तासु कुतूहलमस्तीति ।

जयन्ती टीका के कर्ता कृष्ण जी के अनुसार[3] — विलास: शृंगारचेष्टा: तद्वन्तो विलासिन: तेषां कलासु कुतूहलं कुतुकयुक्तं यदि भवति ।

रसिकप्रिया के रचयिता कुम्भनृपति के अनुसार[4] — विलासिनां शृङ्गारिणां कलास्तासु ।

रसमंजरी के प्रणेता शंकरमिश्र के अनुसार[5] — विलास: स्त्रीणां हाव विशेषास्तत्सम्बन्धीनीषु कलासु कुतूहलम् कौतुकम् ।

१- गीतगोविन्द संजीवनी टीका, पृ० सं० ११ ।

२- गीतगोविन्द पदद्योतनिका टीका, पृ० सं० १२ ।

३- गीतगोविन्द जयन्ती टीका, पृ० सं० १२ ।

४- गीतगोविन्द रसिकप्रिया टीका, पृ० सं० ८ ।

५- गीतगोविन्द रसमंजरी टीका, पृ० सं० ८ ।

उपर्युक्त सभी टीकाकार इस विषय में येन-केन प्रकारेण सहमत हैं कि कामशास्त्रोक्त विभिन्न कलाओं में प्रवीण प्रेमीजनों के पठनार्थ गीतगोविन्द की रचना की गयी है । पदद्योतनी टीका के लेखक नारायण पंडित और रसिकप्रिया के कर्ता कुम्भनृपति ने तो 'विलासकलासु कुतूहलम्' के स्थान पर 'विलासिकलाकुतूहलम्' पाठ मानकर अपनी व्याख्या की है । इस प्रकार इससे तो यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि जयदेव ने हरिस्मरण के साथ-साथ विलासीजनों को प्रसन्न करना भी अपने काव्य का प्रमुख उद्देश्य माना है और उन्हें अपना गीतगोविन्द पढ़ने तथा सुनने का अधिकारी समझा है । जबकि इसके विपरीत रामगीतगोविन्दम् के लेखक ने 'काव्य कलासु कौतुकम्' लिखकर काव्य-सम्बन्धी कलाओं के अध्ययन के प्रति जिनके मन में अभिलाषा हो वे ही जन मर्यादापुरुषोत्तम राम के पराक्रम और शौर्यपूर्ण वर्णन से सुन्दर इस काव्य को पढ़ने के अधिकारी हैं । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यकलाप्रेमियों के लिये ही काव्य की रचना का प्रयोजन स्वीकार किया है ।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण काव्य मर्यादापुरुषोत्तम राम के प्रति पाठकों के मन में भक्ति, श्रद्धा तथा गरिमामंडित ओजस्वी कार्यकलाप के प्रति आदर भावना उत्पन्न करने के लिये लिखा गया है । यही कारण है कि कवि ने 'तदोजसा रुचिरम्' लिखकर अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ओजगुण को अभिव्यक्त करने वाला काव्य है । अन्य गीतकाव्यों अथवा रामकाव्यों की भांति इसे भी शृङ्गाररस प्रधान काव्य कहना असत्य का द्योतक होगा । इस प्रकार यह वीररस प्रधान काव्य है ।

(द) रामगीतगोविन्द रागकाव्य में कतिपय नवीन शब्दों का प्रयोग --

रामगीतगोविन्दकार जयदेव ने अपने इस रागकाव्य में कुछ नवीन शब्दों का भी प्रयोग किया है । इस रागकाव्य में 'नवीणा' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है । संस्कृत कवियों ने इसका प्रयोग नहीं किया है । टीकाकार ने भी इसकी सिद्धि निपात द्वारा मानी है ।[1] गीतकाव्य में शब्द-प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत कविगण व्याकरण नियमों की सदा अवहेलना करते रहे हैं । 'नवीणा' शब्द के ही सदृश 'नवल' शब्द का भी प्रयोग नहीं प्राप्त होता और गमन अर्थ का सूचक 'गमण' का भी प्रयोग नहीं है । 'नवीणा', 'नवल', और 'गमण' शब्दों का प्रयोग १६ वीं शताब्दी में रचित 'कृष्ण-गीति' के लेखक कवि सोमनाथ ने एक श्लोक और गीत के ध्रुवपद में किया है । क्रमश: इनके उदाहरण इस प्रकार हैं --

श्रीराधिकानवलकेलिवशीकृतस्य,
कृष्णस्य गीतमिदमद्भुतभावपूर्णम् ।
कृष्णाङ्घ्रिपद्ममकरन्दलिहां नराणा-
मानन्दनाय कुरुते द्विज सोमनाथ: ।[2]

रावति राधा नवलभी[3]

१- रामगीतगोविन्द - ६। ६ की टीका, पृ० सं० १०७ ।

२- कृष्णगीति - श्लोक ४, पृ० सं० १ ।

३- कृष्णगीति - पृ० सं० २० ।

कलितरुचिरुचिकारविस्फुरितनीवीदर्शनधर्षितरमणे ।
मन्थरचरणविहारविनिर्जितमदवारणवरगमणे ॥[1]

आजकल इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग का प्रचलन हो गया है । `नवल` शब्द के विषय में कुछ लोगों का मत है कि यह शब्द देशी शब्द `णउल्ल` का संस्कृत शब्द है । ऐसी स्थिति में गमण शब्द के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इस पर प्राकृत का प्रभाव है । इसका कारण यह है कि प्राकृत में `न` के स्थान पर णकार होता है । इस सन्दर्भ में वास्तविक स्थिति यह है कि रागकाव्य (गीतकाव्य) का प्राण तत्व `राग` होता है । `राग` के लिये अन्त्यानुप्रास आवश्यक है । क्योंकि इसके अभाव में माधुर्य और चमत्कार की अभिव्यक्ति नहीं होती है । आशय यह है कि गीतकाव्य में अन्त्यानुप्रास अनिवार्य है । इसी अनुप्रास के मोह में पड़कर कविगण इस प्रकार के अपाणिनीय प्रयोग करते रहे हैं । परन्तु छन्दशास्त्र के पंडितों के अनुसार गीत में अन्त्यानुप्रास का न होना एक प्रकार से छन्दोभंग ही मानना पड़ेगा । क्योंकि श्लोक में इस प्रकार का अपाणिनीय प्रयोग असाध्य है ।

रामगीतगोविन्दकार जयदेव ने अपने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये यत्र-तत्र अप्रचलित शब्दावली का भी प्रयोग किया है । `अतसीपुष्प` के स्थान पर `उमापुष्प`[2], दशरथ और कुम्भकर्ण के लिये क्रमशः

१- कृष्णगीति - पृ० सं० २२ ।

२- उमापुष्पश्यामौ विकचविशदाम्भोजनयन:
प्रवालोष्ठौ विद्रुमविरतकोण्डपिडुर: ।
पृथक्कान्त्याणिभ्यामतिविमलमुक्ताफलधरौ,
महावीरौधीरौ मनसि रघुवीरौ निवसताम्
- रामगीतगोविन्द, १।१५, पृ० सं० २४ ।

'पंक्तिरथ'[१] और 'घटश्रुति'[२] शब्द प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार टीकाकार ने एक श्लोक में प्रयुक्त[3] 'अस्थिरा' शब्द को अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना मूलक व्युत्पत्ति के सहारे सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि लिपिकार ने शीघ्रतावश 'स्थिरा' के स्थान पर 'स्थरा' लिख दिया हो, जिसे टीकाकार ने 'स्थरा' समझा हो, तथा यह भी हो सकता है कि 'पूर्णा' और 'स्थरा' के मध्य में अवग्रहाकार का अस्तित्व मानकर 'अस्थरा' इस पाठ की कल्पना की और उसे ही वैयाकरणिक व्युत्पत्ति के सहारे शुद्ध पाठ बनाने का हठधर्मितापूर्ण प्रयत्न किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः प्रस्तुत स्थल पर स्थिरा पाठ ही शुद्ध है, तथा इस पाठ से श्लोक का अर्थ भी सरलता से निकल जाता है।

१- तस्मिन्गते परशुराममुनावरण्यमा -
नीय पङ्क्तिरथमात्मपुरोहितेन।
पूजाञ्चकार महतीं विधिना विधिज्ञः,
पप्रच्छ शारद शिवं जनकाऽधिराजः

- रामगीतगोविन्द - २।१६, पृ० सं० ४८

२- जघान हीमान्गिरिशृङ्गसन्निभा-
न्महाबलान्मुद्गरहस्तयोधिनः।
दशास्यमुग्रं घननादमुद्भटं।
घटश्रुतिं चैव तथैव रामः॥

- रामगीतगोविन्द - ५।५, पृ० सं० ६३

३- निदध्वनुर्दुन्दुभयः समन्ताज्जगुश्च गन्धर्वगणाः प्रवीणाः।
वनं सपुष्पं हरिदम्बुपूर्णाऽस्थरा धारित्री विमलंनमश्च॥

- रामगीतगोविन्द - १।१०, पृ० सं० १६

§ ङ § रामगीतगोविन्द में संगीतयोजना —

प्रस्तुत रामकाव्य में ६ सर्ग हैं, तथा २४ गीत हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के सदृश रामगीतगोविन्दकार ने भी प्रत्येक सर्ग का नामकरण किया है। यथा प्रथम सर्ग, सानन्दरघुनन्दनो, द्वितीय सर्ग, विजितपरशुरामो, तृतीय सर्ग वनान्निवासो, चतुर्थ सर्ग लङ्काप्रवेशो, पञ्चम सर्ग लङ्काविजयो तथा षष्ठ सर्ग रामाभिषेको है।

प्रस्तुत रामकाव्य में मात्रावृत्तों में रचित गीत संगीत से परिपूर्ण है। प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट तालों रागों में की गयी है। प्रत्येक गीत आठ पदों के हैं। यही नहीं प्रत्येक गीत में ध्रुवपद का भी प्रयोग हुआ है जोकि संगीत की दृष्टि से अनिवार्य माना गया है। रामगीतगोविन्द रामकाव्य में मालव, वसन्त गुर्जरी आसावरी, भैरवी आदि रागों का, रूपक तथा प्रतिमण्ठ आदि तालों का समुचित रूप से प्रयोग हुआ है। उदाहरण स्वरूप रामगीतगोविन्द रागकाव्य में रागों तथा तालों का प्रयोग इस प्रकार है[1]। यथा —

पश्य पश्य रघुवीर । प्रयागम् ।
मञ्जदखिलमुनिगणमतिरागम् ,
सीतया सह सन्ततमेतम् ।। १ ध्रुवपदम्
नीलपीतसित चित्रपताकम् ।
सुललमुखशिथिलीकृतनाकम् ।। २
सिंहासनपरिपूरितकूलम् ।
ज्ञानयोगजपतापनमूलम् ।। ३

१- रामगीतगोविन्द - तृतीय सर्ग, १४वां गीत, पृ० सं० ६६, ६७ एवं ६८।

वाणीबन्धुतरंगि बाबहूगम् ।

निमिषादेति कलुषमतिमहूगम ।। ४

उपवनवनभूषितमहिदेशम् ।

सकलकलाकल्पितशुभवेशम ।। ५

मनुवाकारसुरासुरनागम् ।

विश्रितनृपतितापसवरयागम् ।। ६

मुक्तिचतुर्विधमुलभमनूपम् ।

रामानननानामणियूपम् ।। ७

श्रीजयदेवभणितमिति गीतम् ।

सुखयतु रामकरागमुपनीतम् ।। ८

इस प्रकार उपर्युक्त गीत में गुर्जरी राग तथा प्रतिमण्ठताल का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार रामगीतगोविन्द के `जयति विदेहनगरमनुरूपम्` गीत में आसावरी राग तथा रूपकताल का प्रयोग हुआ है ।

इस प्रकार अन्त में कह सकते हैं कि प्रस्तुत काव्य कवि के शब्दों में `तुलसीमाला`[1] से सुशोभित भगवान राम के भक्त `साधुजनों`[2] को सुखकारी होगी तथा काव्यकलाप्रेमियों को भी प्रस्तुत कृति के अध्ययन से आनन्द की अनुभूति होगी ।

१- `मन्दारमल्लीकुन्दतुलसीदामसंवलितम्`
— रामगीतगोविन्द, तृतीय सर्ग, दशमगीत, पृ० सं० ५३ ।

२- सुखयतु रामभक्तमतिमुदितम् - रामगीतगोविन्द, पञ्चम सर्ग, १६ वां गीत, पृ० सं० ८६।

३- सुखयतु साधुनिचयमनुमानम् - रामगीतगोविन्द, चतुर्थ सर्ग, १८वां गीत, पृ० सं० ८२ ।

(ग) महाकवि भानुदत्त विरचित गीतगौरीपति -

(अ) गीतगौरीपति - परिचय —

गीतगौरीपति रागकाव्य के प्रणेता महाकवि भानुदत्त है। यह रागकाव्य भी गीतगोविन्द की परम्परा में लिखा गया है। "रसमञ्जरी" नामक ग्रन्थ के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम "गणेश्वर" और जन्मस्थान मिथिला है। श्लोक इस प्रकार है --

> तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणि-
>
> र्देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता ।
>
> पद्येन स्वकृतेन तेन कविना श्री भानुना योजिता
>
> वाग्देवीश्रुतिपारिजातकुसुमस्पर्धाकरी मञ्जरी ।[1]

इस प्रकार कुछ ग्रन्थों में विदर्भभूः पाठ आता है, लेकिन सुर - - - रिता: शब्द से इसका सम्बन्ध नहीं जुड़ता। लेखक के कथनानुसार गंगा नदी उसके देश के बीचो बीच बहती है, यह बात विदेह के सम्बन्ध में तो संगत हो जाती है किन्तु विदर्भ के सम्बन्ध में असंगत प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भानुदत्त मिथिला प्रदेशवासी थे।

भानुदत्त के नाम के साथ मिश्र उपाधि जोड़ देने से सूचित होता है कि वे मैथिल ब्राह्मण थे और सम्भवत: वैद्य नहीं थे।[2] भानुदत्त ने स्वयं ही इस राग-काव्य की टीका की है, ऐसा प्रतीत होता है।

भानुदत्त के पिता का नाम गणेश्वर, गणपति, गणनाथ और गणेश

१- रसमञ्जरी - श्लोक १३८, पृ० सं० १२५।

२- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : सुशील कुमार डे, पृ० सं० २२६।

भी प्राप्त होता है । गीतगौरीपति काव्य में इनका दो बार नामोल्लेख है । श्लोक इस प्रकार है —

> कविमणिनाथ सुतस्य कवेरिति वचनं त्रिजगति धन्यम् ।
> निगदतु को वा को वा विलिखतु शैलसुतालावण्यम् ।।[1]

तथा —

> कृतधरविनयौ गणपतितनयौ निगदति हितकारणम् ।
> हिमकरमुकुटे विजयिनि निकटे विरचय न च वारणम् ।।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त इन चारों नामों में भानुदत्त के पिता का वास्तविक नाम क्या था ? इस प्रसंग में डा० यतीन्द्र विमल चौधरी महोदय के द्वारा सुभाषित पद्य संग्रह में हरिभास्कर प्रणीत पद्यामृत तरङ्गिणी की भूमिका में भानुदत्त के वंशावली का उल्लेख है । जो इस प्रकार है[3] यथा —

१- गीतगौरीपति - षष्ठ सर्ग, पृ० सं० ५३ ।
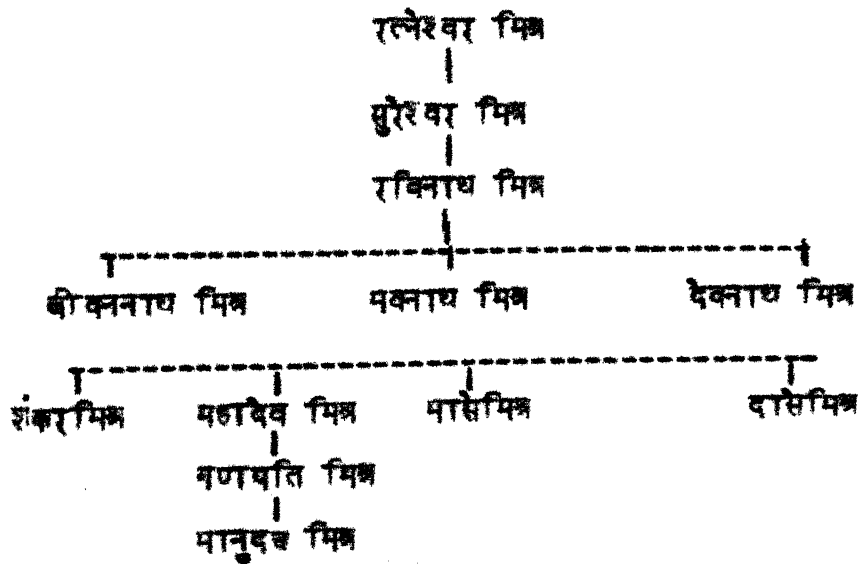
२- गीतगौरीपति - दशम सर्ग, पृ० सं० ८६ ।

३- पद्यामृततरङ्गिणी - पृ० सं० IX ।

इस प्रकार इस वंशावली से निश्चय होता है कि विभिन्न पत्रों में उनके पिता के प्रयुक्त चारों नाम में वास्तविक नाम गणपति था । अन्यों के पत्रों में में भी गणपति नाम के पर्यायवाची गणेश्वर, गणनाथ, गणेश शब्द प्रयुक्त हुए हैं । इसी प्रकार 'कुमारभार्गवीय'[4] नामक एक अन्य ग्रन्थ जिसे भानुदत्त रचित माना जाता है ; इस ग्रन्थ में लेखक को गणपति अथवा गणनाथ का पुत्र कहा गया है और उनकी वंशावली इस प्रकार दी गयी है । यथा —

रत्नेश्वर
|
सुरेश्वर – शारीरिक भाष्यवार्तिक के लेखक
|
विश्वनाथ
|
रविनाथ
|
भवनाथ
|
महादेव
|
गणपति
|
भानुदत्त

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भानुदत्त के द्वारा लिखित यह 'कुमारभार्गवीय' चम्पूकाव्य में मिश्र उपाधि से रचित श्लोक से युक्त वंशावली अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है ।

४- १२ उच्छ्वास पर्यन्त यह ग्रन्थ चम्पू (गद्यपद्यमिश्रित है ।
इंडिया आफिस कैटलाग vii , पृ० १५४० । इसमें वंशावली सम्बन्धी श्लोकों का सम्पूर्ण उद्धरण है ।

द्वारा - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : सुशील कुमार डे, पृ० सं० २२६ ।

(ब) गीतगौरीपति के रचयिता एवं रचनाकाल —

भानुदत्त नायक-नायिका तथा रसविषयक अपने दो लोकप्रिय ग्रन्थों रसमञ्जरी तथा रसतरंगिणी के लिये प्रसिद्ध हैं।[1] ग्रन्थमाला १८८७-८८ के अन्तर्गत प्रकाशित दस सर्गयुक्त गीतगौरीश अथवा गीतगौरीपति नामक गीतकाव्य भानुदत्त रचित कहा जाता है।[2] आफ्रेक्ट महोदय ने पहले इन दोनों लेखकों को भिन्न-भिन्न मानकर इनका पृथक-पृथक् उल्लेख किया और बाद में उन्होंने कहा कि गीतकाव्य का लेखक रसतरङ्गिणी के लेखक से अभिन्न है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रसतरङ्गिणी के जो भानुदत्त थे वही गीतगौरीपति रागकाव्य के भी भानुदत्त हैं। इसके अतिरिक्त गीतगौरीश कोई संकलन ग्रन्थ नहीं है जिसमें अन्य लेखकों को श्लोक अपेक्षित हों, अतएव इसमें भानुदत्त के दो ग्रन्थों के श्लोकों का विद्यमान होना इस अनुमान को पुष्ट करता है कि इन तीनों ग्रन्थों का लेखक एक ही व्यक्ति होगा।

अब प्रस्तुत कृति के लेखक 'भानुदत्त' के रचनाकाल का प्रश्न उपस्थित होता है? इस सन्दर्भ में यह अनुमान करना न्यायसंगत है

१- शेष चिन्तामणि के परिमल, गोपाल के 'विकास तथा रंगशायी की 'आमोद' नामक टीकाओं में इस नाम का अन्य रूप 'भानुकर' दिया गया है। कहीं-कहीं नाम के साथ मिश्र उपाधि भी लगा दी गयी है।
refered by S.K. Dey - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० सं० २२५।

२- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : एस० के० डे, पृ० सं० २२५।

३- इंडिया आफिस केटलाग vii, , पृ० १४४३-४५ पर हस्तलिपि का विवरण दिया गया है। refered by (डे), पृ० सं० २२६।

कि साहित्य क्षेत्र में जयदेव रचित गीतकाव्य की प्रतिष्ठा हो जाने के कुछ समय पश्चात् ही भानुदत्त के अनुकरणात्मक ग्रन्थ की रचना हुई होगी । इस प्रकार जयदेव की तिथि १२वीं शती के पूर्वार्द्ध अथवा उत्तरार्द्ध से निर्धारित की जाती है, परन्तु भानुदत्त को १२ वीं शती से पूर्व निर्धारित नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार प्रस्तुत कृति के निर्माणकाल और उसी के सहारे कृतिकार का जन्मकाल केवल अनुमान प्रमाण के आधार पर निश्चित होता है ।

भानुदत्त शैव थे अथवा वैष्णव इस विषय में प्रबल प्रमाण का अभाव होने पर भी प्रस्तुत गीतगौरीपति काव्य से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यह कुमारसंभव के कर्ता कालिदास के समान शिवभक्त थे । यह महाकवि बाणभट्ट के समान भ्रमण प्रिय थे । रसतरङ्गिणी के श्लोक से ज्ञात होता है कि भानुदत्त ने भारत के विभिन्न भागों में पर्यटन किया था,[१] श्लोक इस प्रकार है --

> क्षोणीपर्यटनं श्रमाय विहितं विद्वत्सुं वादाय विधार्जिता
>
> मानध्वंसनहेतवे परिचितास्ते ते धराधीश्वराः ।
>
> विश्लेषाय सरोजसुन्दरदृशामास्ये कृता दृष्टयः,
>
> कुज्ञानेन मया प्रयागनगरे नाऽऽराधि: नारायण: ।।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक में देशाटन की चर्चा स्वयं की गयी है । ये वीरभानु के आश्रय में थे । अतः उनकी तिथि १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में होनी चाहिये ।

१- रसतरङ्गिणी - पंचम तरंग, श्लोक संख्या ५,
पृ० सं० ३४१ ।

भानुदत्त का दूसरा नाम भानुकर भी है । "डा० हरदत्त शर्मा[1] ने यह सिद्ध किया है कि पद्यामृता सुभाषित हारावली तथा रसिक जीवन आदि कतिपय परवर्ती संग्रहों में उक्त रसमञ्जरी और रसतरङ्गिणी के श्लोकों को भानुकर रचित माना गया है और यह सिद्ध किया है कि भानुदत्त और भानुकर एक ही व्यक्ति हैं ।" डा० डे[2] ने भानुकर और भानुदत्त को एक ही व्यक्ति नहीं माना है ।

डा० राघवन्[3] के मत में किसी कृति का लेखक निश्चित करने के लिये उपरोक्त संग्रहों को एकमात्र आधार नहीं मानना चाहिये । डा० हरदत्त शर्मा[4] ने रसिक जीवन के जिस श्लोक को आधार माना है, वह राजशेखर की बालरामायण (१-२८) में भी आता है । प्रो० देवस्थली[5] ने भानुदत्त सम्बन्धी कई प्रश्नों की जांच की है, और वे इस परिणाम पर पहुंचे कि रसतरङ्गिणी, रसमञ्जरी, अलंकारतिलक, गीतगौरीश, कुमारभार्गवीय और चित्रचंद्रिका (अलंकार-तिलक) में रसरत्ना को भानुदत्त कृत माना है ।

भानुदत्त ने सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यप्रकाश और गीतगोविन्द का उल्लेख किया है । अतः इनका समय लगभग १२५० ई० सन् से पूर्व नहीं हो

---

1. "Annals of B.O.R.I. Vol. 17 PP. 243-258" refered by P.V. Kane - In history of Sanskrit, P. 306.
2. History of Sanskrit Poetics by P.V.Kane, P. 306.
3. "Annals of B.O.R.I.Vol. XVIII,PP.85-86" refered by P.V.Kane in History of Sanskrit Poetics, P. 306.
4. "P. 257 of Vol. 17 of Annals B.O.R.I" refered by P.V. Kane in History of Sanskrit Poetics, P. 306.
5. New I. A. Vol. VII. PP. III-117" refered by P.V.Kane in History of Sanskrit Poetics, P. 306.

सकता ।[1] डा० पी० वी० काणे[2] के अनुसार भानुदत्त[3] की तिथि १२५० तथा १५०० ई० सन् के बीच रही होगी, पर डा० हरदत्त के विचारों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है, उनके अनुसार भानुकर ने निजाम का उल्लेख किया और उनकी प्रशंसा की है, यह उत्तरवर्ती संग्रहों का मत है ; उस समय वे इस निजाम को निजामशाही वंश का राजा मानते थे, परन्तु उनके हाल के विचार में ये लोदी वंश के राजा निजाम खां हैं । अत: यदि भानुकर और भानुदत्त एक ही व्यक्ति हैं तो भानुदत्त का समय लगभग १५४० प्रतीत होता है, यह प्राय: असंमान्य तिथि है, यही कारण है कि डा० हरदत्त शर्मा ने इसका आधार लेकर कहा है कि कतिपय संग्रहों में भानुकर का उल्लेख है और उसके कतिपय पद्यों में निजाम, वीरभानु और कृष्ण का भी उल्लेख है ।

इस प्रकार डा० शर्मा तथा अन्य लेखक भानुदत्त और भानुकर को एक ही व्यक्ति मान लेते हैं, परन्तु डा० पी० वी० काणे तथा डा० राघवन् महोदय इसे स्वीकार नहीं करते हैं । इसके अतिरिक्त इस सन्दर्भ में यह मानना कि भानुदत्त का संक्षिप्त रूप भानु हो गया हो जैसे कि भीमसेन का भीम उल्लेख किया जाता है, परन्तु इस सन्दर्भ में यह संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि इसमें कहीं भी इस प्रकार का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं प्राप्त होता है, जिसमें कि हरदत्त, रुद्रदत्त और रविदत्त का हरकर, रुद्रकर अथवा रविकर के रूप में उल्लेख आया हो । अत: यह संदिग्ध है कि भानुदत्त और भानुकर एक ही व्यक्ति है ।

१- History of Sanskrit Poetics by P.V. Kane, P.307.

२- History of sanskrit Poetics by P.V. Kane, P. 307.

३- History of Sanskrit Poetics by P.V. Kane, P. 308.

भानुदत्त का समय डा० पी० वी० काणे महोदय ने लगभग १५४० माना है[१]। इसी मत को सुशीलकुमार डे ने भी स्वीकार किया है, तथा इस सन्दर्भ में डे महोदय ने अपने संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि इस विषय पर डा० पी० वी० काणे[२] ने नयी सामग्री प्रस्तुत की है। इस सन्दर्भ में उनका कथन है कि भानुदत्त ने "विवादचंद" के लेखक तथा स्मृतिकार, मिसरू मिश्र की बहन से विवाह किया था, ये मिश्र १५वीं शती के मध्य भाग में हुए, अतएव भानुदत्त को १४५० से १५०० ई० की मध्यावधि में निर्धारित करना ही युक्तियुक्त होगा।

अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि डा० पी० वी० काणे ने नयी सामग्री प्रस्तुत की है, यही कारण है कि उनके इस मत को डा० सुशील कुमार डे ने भी अङ्गीकार किया है। अत: यह एक ठोस आधार माना जा सकता है।

[स] गीतगौरीपति की विषयवस्तु एवं भाषाशैली —

प्रस्तुत रसरञ्जित गीतगौरीश रागकाव्य गीतगोविन्द को आदर्श मानकर लिखा गया है। यह रागकाव्य १० सर्गों में विभक्त है। इस गेय काव्य में भानुदत्त के द्वारा पार्वती शंकर की पवित्र प्रणय गाथा भक्तिभाव से युक्त ललित गीत के द्वारा चित्रित की गयी है। महाकवि भानुदत्त ने काव्य आरम्भ में अन्य ग्रन्थकार के समान ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के उद्देश्य से मंगलाचरण भी किया है। कवि के शब्दों में इस प्रकार है --

सन्ध्यानृत्यविधौ भुजङ्गमपतेर्गीतामृतं शृण्वत:
प्रत्यग्रस्खलितप्रमोदसलिलस्तोमे तनौ सर्पति।

१- History of Sanskrit Poetics by P.V. Kane, P. 308.

२- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (डे), पृ० सं० २२६।

मौठिरुत्पगगा किमु त्रिपगगा जातेति शङ्काकुला,
देवस्य त्रिपुरान्तकस्य वक्तिं व्यालोकितं पातु वः ।।[१]

आशय यह है कि कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण सिर्फ शिष्टों की परम्परा पालन के लिये किया गया है । इस प्रकार कवि ने पारम्परिक माङ्गलिक श्लोक लिखकर इस काव्य को एक ओर अमृत के समान मधुरता और दूसरी ओर शंकर के डमरू की आवाज के समान कर्णप्रिय बताया है । इस प्रकार की गर्वोक्ति मिश्रित शब्दावली इस प्रकार है । यथा --

मानोर्गीतितं सुधास्फीतं शम्भोर्डमरुडिण्डिमः ।
विदुषां रसनारङ्गभूमिर्मारिति । नृत्यताम् ।।[२]

प्रस्तुत कृति गीतगोविन्द से प्रभावित है । जिस प्रकार गीतगोविन्द के प्रारम्भ में जयदेव ने भगवान विष्णु के दशावतार का वर्णन किया है उसी प्रकार भानुदत्त ने भी काव्य के आरम्भ में भगवान शंकर की अष्टमूर्ति की स्तुति की है । अतः यह कहा जा सकता है कि यह रागकाव्य गीतगोविन्द का अनुकरणात्मक है । यह विचारधारा समीक्षक डा० सुशील कुमार डे की भी है, उन्होंने अपने 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि कवि कोकिल जयदेव के गीतगोविन्द से प्रभावित होकर महाकवि भानुदत्त ने अपना गीतगौरीपति रागकाव्य लिखा है ।[३]

१- गीतगौरीपति - प्रथम सर्ग, श्लोक १, पृ० सं० १ ।

२- गीतगौरीपति - प्रथम सर्ग, श्लोक २, पृ० सं० १ ।

३- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (डे), पृ० सं० २२६ ।

प्रस्तुत कृति रसराज शृङ्गाररस प्रधान है । इस काव्य की कथा अत्यधिक संक्षिप्त है । लोकप्रसिद्ध पार्वती शंकर की प्रणयगाथा बहुत पहले ही प्रतिपादित की जा चुकी है । इस काव्य के कथानक में सरसता लाने के लिये कवि ने उमा की सन्देश वाहिका जोकि विपत्ति में, विरह में धैर्य प्रदान करने वाली है । विजय नामक एक सखि के द्वारा कल्पित की गयी है । इस काव्य में पात्रों का बाहुल्य नहीं है । भानुदत्त ने सर्वप्रथम विप्रलम्भ शृङ्गार की पृष्ठभूमि उपस्थित करने के लिये पार्वती के द्वारा शङ्कर की भर्त्सना करायी है कि हे नटराज । केलिकला में कुशल कोई भी कामी क्या अनिन्द्यसुन्दरी को देखकर कोई भी कामिनी मूर्च्छिता धारण करती है । इस प्रकार मेरे द्वारा सपत्नी के समान आश्चर्य शिर पर धारण करती है । यह क्या उचित है ? ऐसा कहकर रोषान्वित होकर शिव वासन्तिक कमनीय कुञ्ज में प्रवेश कर जाते हैं । यथा --

> के वा केलिकलाकलापकुशला: क्रीडन्ति नो कामिन:,
>
> कान्ता क्वाऽपि कदाऽपि काऽपि शिरसा केनाऽपि किं धार्यते ।
>
> गङ्गां मूर्ध्नि दधासि नाऽपि वहसि व्रीडां न धत्से क्षमाम्,
>
> किं नाऽवाच्यमिदं निगद्य गिरिजा कुञ्जान्तरं निर्ययौ ।।[1]

इस प्रकार यह श्लोक वार्तालाप प्रसङ्गात्मक है । आशुतोष (शिव) को कुञ्ज में रोषान्वित, खिन्न और दीन देखकर व्यथित हृदय से सखि विजया बोली — हे शिव वल्लभे ! सखि पार्वती से क्यों इस समय खिन्न हो, क्यों उदासीन हो । विशाल वसन्तकाल का आगमन हो गया है । इस समय वसन्त सम्पूर्ण रात्रि में वसन्ती विभाग के सदृश सुशोभित होती है । धैर्य धारण करो, अणुमात्र भी रोष मत करो, खिन्नता का परित्याग कर दो, उदासीनता का

१- गीतगौरीपति - प्रथम सर्ग, श्लोक ५, पृ० सं० ५ ।

यामकीयुक्तीतनुकर्षणशिथिलितदिनकरयानम् ।

विरहिविदारणबहलतमः भ्रमविहितहिमानीयानम् ।। ७

भानुदक्षविकृतमधुवर्णनममृतद्रवसहकाशम् ।

जयतु गौरीनयननिषेविकपुरहरहृदयविकाशम् ।।८

आशय यह है कि संस्कृत भाषा के काव्यों में प्राय: सभी ऋतुओं के वर्णन की एक परम्परा दृष्टिगोचर होती है । आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने अपने रामायण में सभी का मनोमुग्धकारी वर्णन किया है । उनके द्वारा वर्णित रमणीय वर्षा वर्णन सहृदय सुधी समाज में अतीव लोकप्रिय है । यही कारण है कि महाकवि कालिदास ने ऋतुओं को लक्ष्य कर ही अपने ऋतुसंहार नामक काव्य की रचना की है । इसी प्रकार अन्य कविवरों ने भी बहुत से काव्य संस्कृत भाषा में रचा है । यही कारण है कि साहित्य शास्त्र के श्रेष्ठ आचार्यों ने अपने महाकाव्यों में ऋतुओं का वर्णन अनिवार्य घोषित किया है । पीयूषवर्षी जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में सभी ऋतुओं का वर्णन नहीं किया है । कालिदास के द्वारा `सर्वप्रियं चारुतरं वसन्ते ` इस प्रकार की सूक्ति ऋतुराज वसन्त की प्रशंसा में कही गयी है । `ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ` जयदेव की प्रसिद्ध लोकप्रिय इस गीत का हृदयहारि चित्रण किया गया है । अन्य ऋतुओं का वर्णन गीतगोविन्द में नहीं है । यही कारण है कि जयदेव की परम्परा में लिखित सभी रागकाव्यों में प्राय: वसन्त का ही वर्णन प्राप्त होता है । इसलिये इस काव्य में वसन्त का वर्णन है । इसमें कवि ने अन्य ऋतुओं का वर्णन नहीं किया है । इस प्रकार गीतगौरीपति के विषयवस्तु विवेचन के पश्चात भाषा-शैली निरूपण इस प्रकार है ।

गीतगौरीपति रागकाव्य में सरस,सरल, प्रौढ़ और कोमल पदावलि से परिलक्षित तथा ललित कलात्मक सहृदयाकर्षक मर्मस्पर्शी श्लोक नहीं है । इस कविवर की प्रसिद्धि रसतरङ्गिणी और रसमञ्जरी ग्रन्थों से होती है । जैसे

रसरञ्जित श्लोक इस गीतकाव्य में नहीं दिखाई देते हैं । यही स्थिति इस रागकाव्य के गीतों में भी वर्तमान है ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिद्ध सारस्वत महाकवि भानुदत्त की यह प्रथम कृति हो सकती है, इस कारण इस रागकाव्य के गीतों में, श्लोकों में अप्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है । टीकाकार की असावधानी के कारण गीत के प्राणभूत अन्त्यानुप्रास में शिथिलता भी आ गयी है । यह काव्य जयदेव के गीतगोविन्द से पूर्णत: प्रभावित है, किन्तु फिर भी जयदेव के गीतगोविन्द के गीतों में, पद्यों में जैसी सरसता तथा पदावलियों में पेशलता और हृदयस्पर्शिभावप्रवणता परिलक्षित होती है, वैसी इस काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होती है ।

रागकाव्यों में कविवर प्रसादगुण परिचायक कोमल कर्णप्रिय शब्दों का प्रयोग प्राय: करते हैं । रागकाव्य के प्रवर्तक महाकवि जयदेव ने अपने प्रसिद्ध गीतगोविन्द में यह रीति गीतो में प्रवर्तित की है, किन्तु प्रस्तुत राग-काव्य में महाकवि भानुदत्त ने गीतों में, श्लोको मे इसके विपरीत अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिये अललित और अप्रसिद्ध शब्दो का भी प्रयोग किया है । भानुदत्त ने अपने इस काव्य में मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का, तथा उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग किया है । अत: यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत रागकाव्य में भाव और कलापक्ष अत्यन्त समृद्ध है ।

॥ द ॥ जयदेव तथा भानुदत्त के छन्दों में साम्य —

यह तो पूर्व में ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि गीतगोविन्द को आधार मानकर ही परवर्ती कवियों ने अन्य ग्रन्थों की रचना की है, यही कारण है कि परवर्ती कवियों के सभी रागकाव्य गीतगोविन्द से प्रभावित हैं और उन्हें गीतगोविन्द की अनुकृतियां भी कहा गया है । अत: सरसरी तौर अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इन दोनों ग्रन्थों में बहुत कुछ

समानता है । इस प्रसंग में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सामान्य ग्रन्थ योजना के अतिरिक्त भानुदत्त काव्य के सर्गों में कई श्लोक ऐसे हैं, जिनका गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव के छन्दों से साम्य है । उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है ।

जयदेव	भानुदत्त
१- प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम् ।	भ्रमसि जगति सकले प्रतिलवमविशेषम् ।
विहितवहित्रचरित्रमखेदम् ।	शमयितुमिव जनखेदम् शेषम् ।
केशव ! धृतमीनशरीर, जय जगदीश !	पुरहर ! धृतसमीरशरीर ! जयभुव-
हरे ![1] (ध्रुव०)	नाधिपते ! ।।१।। ध्रुवपद[2]
२- निभृतनिकुञ्जगृहं गतया निशि	अभिनवयौवनभूषितयादरतरलितलोचन
रहसि निलीय वसन्तम् ।	तारम् ।
चकितविलोकितसकलदिशा रतिरभसभ	किञ्चिदुदञ्चितविहसितया चलदविरल-
-रेण हसन्तम् ।।	पुलकविकारम् ।।
सखि हे केशिमथनमुदारं	हे सखि ! शङ्करमुदितविलासम् ।
रमय मया सह मदनमनोरथ	सह सङ्गमय मयानतया रतिकौतुक-[4]
भावितया सविकारम् ।। ध्रु० ।।[3]	दर्शित हासम् ।। ध्रुवपदम् ।।

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि यह दोनों उद्धरण अनुकरण के आधिक्य को परिलक्षित करते हैं । इसलिये इस प्रसंग में यह अनुमान करना समीचीन प्रतीत

१- गीतगोविन्द - प्रथम सर्ग,

२- गीतगौरीपति - प्रथम सर्ग, पृ० सं० २ ।

३- गीतगोविन्द - द्वितीय सर्ग,

४- गीतगौरीपति - तृतीय सर्ग, पृ० सं० २१ ।

होता है कि जयदेव रचित गीतकाव्य की प्रतिष्ठा हो जाने के कुछ समय पश्चात ही भानुदत्त के अनुकरणात्मक रागकाव्य की रचना हुई ।

। ङ । गीतगौरीपति संगीतयोजना —

प्रस्तुत रागकाव्य में १० सर्ग हैं । जयदेव के गीतगोविन्द के समान प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने प्रति सर्ग का नामकरण किया है । जैसे - द्वितीय सर्ग कलहनिवेदन्नाम, तृतीयसर्ग उत्कण्ठावर्णन, चतुर्थ सर्ग सख्युपदेशो, पञ्चम सर्ग अनङ्गखेलो, आदि सर्गों के नामकरण किया है ।

प्रस्तुत रागकाव्य में मात्रावृत्तों में रचित गीत संगीत से परिपूर्ण है । इस रागकाव्य में जयदेव के गीतगोविन्द के सदृश प्रबन्धों में भी विभाजन हुआ है । प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट रागों, तालों में की गयी है । प्रत्येक गीत आठ पदों के हैं, यही नहीं प्रत्येक गीत में ध्रुवपद का भी प्रयोग हुआ है, जो कि संगीतशास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है । गीतगौरीपति रागकाव्य में केदार, गुर्जरी, मालव, आदि रागों का प्रयोग हुआ है । उदाहरणस्वरूप गीत इस प्रकार है —

चम्पकवर्जितचापमुदञ्चितकेसरकृततूणीरम् ।

मधुकरनिकरकठोरकवचचयपरिचितचारुशरीरम् । १

अनुसन्धय पश्य वसन्तम् ।

विकचवकुलकुलसङ्कुलकाननकुसुमनिकरेण हसन्तम् ।। ध्रुवपदम् ।

शारिकसौरभ सुभगसमीरणसमुदितपथिकविषादम् ।

कोकिलकलरवकपटलाततिविरचित मूर्च्छितनिनादम् ।।२

विकसितकिंशुककुसुममनमशरविशिखविलास निनादम् ।

युवतिमानमधुपानसमुन्नतरसनामिव विनिधानम् ।। ३

अविरलमदकलसिन्धुरबन्धुरकुसुमितबालतमालम् ।

कुटिलरवनिघटिकाविघटित कणकोमलमधुकर जालम् ।।४

तरलगलवङ्गरसालविविक्त विविधकुसुमकमनीयम् ।

मदनापणमिव दिशि दिशि निहितं नानामणिरमणीयम् ।।५

रतिपतिरथ पतदारतारतरकैतक मञ्जुनिकुञ्जम् ।

स्मरनर नटपतितमुकुटमणिपटुतरपाटलपुञ्जम् ।।६

यामवती युवती तनुकर्षणशिथिलितदिनकर यानम् ।

विरहिविदारणवत्सलम: श्रमविहितहिमानीपानम् ।।७

भानुदत्तकविकृतमधुवर्णनममृतद्रवसङ्काशम् ।

जयतु गौरीनयननिषेवितपुरहरहृदयविकाशम् ।।[1] ८

इस प्रकार उपर्युक्त गीत वसन्त राग में तथा रूपक ताल में निबद्ध है । इसी प्रकार केदार, रामकरी आदि रागों में अन्य गीत निबद्ध है ।

इस प्रकार अन्त में यह कह सकते हैं कि भानुदत्त की यह एक सफल कृति मानी जा सकती है ।

१- गीतगौरीपति - प्रथम सर्ग, पृ० सं० ७, ८, ९ ।

(घ) श्री विश्वनाथसिंहदेव विरचित संगीतरघुनन्दन —

[अ] संगीतरघुनन्दन-परिचय —

प्रस्तुत सङ्गीतरघुनन्दन रागकाव्य के प्रणेता श्री विश्वनाथसिंहदेव हैं। महाराज श्री विश्वनाथसिंहदेव रीवा राज्य के राजा थे। इनकी दीक्षा प्रियादास नामक गुरु से सम्पन्न हुयी थी, तथा इन्हें साहित्य सृजन की प्रेरणा अपने पिता महाराज जयसिंह से प्राप्त हुई थी। इनके पिता हिन्दी भाषा के कवि थे। श्री विश्वनाथ सिंह का शासनकाल १८३३ ईस्वी के प्रारम्भ से १८५४ तक मानते हैं। यह जिस प्रकार एक सफल शासक थे ठीक उसी प्रकार संस्कृत हिन्दी भाषा के सिद्ध सारस्वत कवि भी थे। इनके द्वारा संस्कृत हिन्दी भाषा में रचित विभिन्न विषयों के ग्रन्थ हैं तथा इनके द्वारा कितने मौलिक हैं, तथा कितनों की अपनी टीका तथा अपना भाष्य है। इनकी कृतियों में अधिकांश कृतियां आज भी प्रकाशित हैं।

महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द की परम्परा में प्रणीत यह रागकाव्य १६ सर्गों में है। महाराज विश्वनाथ सिंह ने स्वयं ही इसकी व्यङ्ग्यार्थ चंद्रिका नामक टीका की है। संगीत रघुनन्दन यह रागकाव्य राम की रसिकोपासना सम्प्रदाय के अनुसार है। अतः उसका परिचय इस प्रकार है।

[ब] रसिक-सम्प्रदाय का परिचय —

संगीत रघुनन्दन यह रागकाव्य सरल, सरस और सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला है। यह रागकाव्य राम की रसिकोपासना सम्प्रदाय के अनुसार है। इस सम्प्रदाय के अवान्तर भेद जानकी सम्प्रदाय, रहस्य सम्प्रदाय, जानकी वल्लभ सम्प्रदाय,

सियाराम सम्प्रदाय है । यह सम्प्रदाय साधु पण्डित और रसिक-सम्प्रदाय के गुरुपरम्परा प्रदाता, प्रचारक साधक शिरोमणि १६ वीं शताब्दी में उत्पन्न श्री अग्रदास स्वामि का है ऐसा माना जाता है । साम्प्रदायिक जन इनका अग्रअली यह दूसरा नाम भी कहते हैं । प्रारम्भिक समय में इस महात्मा का साधना स्थल जयपुर नगर में स्थित 'गलतागादी नामक' स्थान था, कुछ समय तक उसी नगर में स्वतन्त्र रूप से इस महात्मा ने पीठ की स्थापना करके रसिक सम्प्रदाय के अनुसार रामभक्ति के प्रचार में सर्वतोभाव से दत्तचित्त हुए । इनके शिष्य 'भक्तमाल ग्रन्थ' के रचयिता नाभादास थे, इससे पूर्व का सम्प्रदाय 'आनन्दाधिकारिणा' है । इस सम्प्रदाय को मानने वाले ग्रन्थ श्री हनुमत्संहिता है । यहाँ तहाँ इस सम्प्रदाय के भक्तों, साधु और विद्वानों ने कृष्ण की रासलीला के सदृश मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की भी रासलीला को मानते हैं । इस सम्प्रदाय-सिद्धान्त के प्रतिपादिकों ने श्रीसीताउपनिषद, श्रीविश्वम्भर उपनिषद, श्रीमैथिलीमहोपनिषद, श्रीरामरहस्य उपनिषद, श्रीहनुमत्संहिता, श्री शिव-संहिता, श्रीलोमश संहिता, श्रीवृहद्ब्रह्मसंहिता, श्री अगस्त्यसंहिता, श्री वाल्मीकि-संहिता, वशिष्ठ संहिता, भुशुण्डि रामायण, वृहत्कोशलखण्ड, आनन्द रामायण, जानकी गीत आदि ग्रन्थ देववाणी में विद्यमान है ।

हिन्दी भाषा में संस्कृत भाषा की अपेक्षा अधिक ग्रन्थ है । भुशुण्डि रामायण के पूर्व खण्ड में २५ वें अध्याय के आरम्भ से ६८ वें अध्याय तक रामरास नामक अध्याय वर्तमान है । इस रामायण में रामरास कृत अयोध्याकाण्ड में प्रमोदवन की भी कल्पना की है । यह वन राम की रासलीला का स्थान है । इस रामायण में इन विषयों के श्लोक इस प्रकार है । यथा --

'रासं चकार रामाभि: परमेश्वरशक्तिः ।'[१]

१- भुशुण्डिरामायण - २५ । ४ श्लोक, पृ० सं० ६६ ।

'पिधाय योनिं करपद्मसंपुटे परस्परासक्तिसुसंगतोरुका: ।[1]

'ततो ऽथ वस्त्रं शनकै: प्रघर्षती बभाष बाला मृदुवल्गुभाषिता ।

अलं बलेन प्रिय मुञ्च मुञ्च मां न वेत्ति संमर्दविलोल विग्रहा ।।

स मार्ष्यमाणोऽपि बलेन योनिं ममञ्च तस्या: खलु दीनभाषितम् ।

हाहेति वक्त्रे काकुह्मलद्वयं प्रकुर्वती व्याकुलताकुला च सा ।।

हठेन तेन व्यथितेव कामिया रञ्च शय्यापि यथार्द्रयावकै: ।

कृतोद्भवां निर्दयसौरतक्रियां तत्याज मूर्च्छार्दितविग्रहां तु ताम् ।।[2]

भुशुण्डि रामायण में राम-रास वर्णन प्रसंग में ऐसे बहुत से पद प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार आनन्द रामायण के विलासकाण्ड में भी भगवान श्री रामचन्द्र के शृङ्गारिक स्वरूप का वर्णन परिलक्षित होता है । हिन्दी भाषा के कवियों के नख-शिख वर्णन के समान इस रामायण में भी भगवती सीता का इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है । यथा --

स्वद्रूपसदृशीं मान्यां पश्यामि जगतीतले ।
प्रतिपच्चंद्रकलयास्पर्धयंति नखामि ते ।।
जघनं मांसलं रम्यं वर्तुलंगजकुंभवत् ।
पीतं विलोमं सुस्निग्धं ... मम विवेकमोहनम् ।।
नाहं ते वर्णने शक्तो रति स्थानस्यभामिनि ।[3]
गंभीरा वर्तुला नाभिस्तव रम्या प्रदृश्यते ।।

१- भुशुण्डिरामायण - २८। ४७, श्लोक, पृ० सं० ११८ ।

२- भुशुण्डिरामायण - २८। ५२, ५३, ५४ श्लोक, पृ० सं० ११६ ।

३- आनन्दरामायण - विलासकाण्ड, द्वितीय सर्ग, श्लोक - ३६, ४७, ४८, पृ० सं० २५८, २५६ ।

आनन्द रामायण में इस तरह के बहुत से श्लोक हैं, इस सम्प्रदाय के आचार्यों का कहना है कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत रामायण में भी शृङ्गार-भावना बोधक श्लोक प्राप्त होते हैं । इस कृति पर जयपुर के 'गलता-पीठस्वामि मधुराचार्य' के द्वारा 'सुन्दरमणि सन्दर्भ' नामक ग्रन्थ रचा गया । यही कारण है कि वाल्मीकि रामायण के बहुत श्लोकों की व्याख्या शृङ्गार-परक है । मधुराचार्य जी ने 'सुन्दरमणि सन्दर्भ' के मंगलाचरण में ही अपने सिद्धान्त का सार इस प्रकार अभिहित किया है । यथा -

प्रोद्यद्भानुसपत्नरत्ननिकरैर्देदीप्यमाने महा,
मोदे दिव्यवराति मंजुवनितावृन्दैः सदा सेविताम् ।।
रासोल्लासमुखैश्च व्याकृततमं दिव्ये महामण्डपे -
ऽयोध्यामध्य प्रमोदशुभ्रविपिने रामं ससीतं भजे ।।[1]

आशय यह है कि अयोध्या के मध्य में स्थित सूर्य के समान प्रभा विस्तार करने वाले रत्नसमूहों से आलोकित शुभ्र प्रमोदवन में मंजु वनितावृन्द से सेवित रासोल्लास के आरम्भ में दिव्य महामण्डप में आसीन सीता सहित राम की वन्दना करता हूं ।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भगवान राम में 'परत्व' और 'सौलभ्य' दोनों ही गुण प्रचुर होने के कारण इष्टदेव हैं । परत्व इष्टदेव की महानता का और सौलभ्य उनकी उदारता का परिचायक है । श्री वाल्मीकीय रामायण को मधुराचार्य जी ने निरतिशय निर्दोष और नित्य रसमय माना है ।[2] इस ग्रन्थ में मधुराचार्य ने 'जार' शब्द की और 'उपपति' शब्द की

१- रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० सं० १७३ ।

२- कृत्स्नस्यापि श्रीमद्रामायणस्य निरतिशय निर्दोष नित्यरसमयत्वम् --
(रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० सं० १७४) ।

विभिन्न व्युत्पत्ति की है । जो इस प्रकार है — 'जारयति संसारबीजं नाशयतीति जार: । उपसमीपं अंतर्यामिरूपेण व्यक्तरूपेण वा स्थित्वा पाति रक्षति पुष्णातीति उपपति: ।'[1]

आशय यह है कि 'जार' का अर्थ है संसार बीज को जीर्ण अर्थात नाश करने वाला और 'उपपति' का अर्थ है अन्तर्यामी रूप से प्रीतिदाता । इसी प्रकार इस श्रेष्ठ आचार्य की वाल्मीकि रामायण के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा थी कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ पूर्णत: श्री सीता जी का चरित्र है ।[2] हनुमान जी ने सुन्दरकाण्ड के १६ वें सर्ग में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि सीता के लिये ही रामचन्द्र ने सारे दुष्कर कार्य किये हैं यही कारण है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ सीता हेतुक और नारी प्राधान्य के कारण श्रृङ्गाररसात्मक है ।[3] इस सन्दर्भ में इस कृति की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार है । 'नहि मिथुनमेव श्रृङ्गार: तस्य पुंगित्वप्रसिद्धे: अपितु आनन्दापरनामक: परमप्रीतिरूप: चित्तस्य ब्रह्मावगाही परिणाम: प्रसिद्ध: ।'[4] आशय यह है कि मधुराचार्य ने श्रृंगाररस को बहुत ऊँची आध्यात्मिक भूमिका के रूप में प्रतिष्ठित किया है । यही नहीं उन्होंने मर्यादा-पालन पर बहुत अधिक जोर दिया है, तथा शरीर सुख को तो उन्होंने घृणित कहा है । इस प्रकार मधुराचार्य के मत से चित्त का परम प्रीति रूप ब्रह्मावगाहन

१- रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना - पृ० सं० १७५ ।

२- रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना --'कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्', पृ० सं० १७५ ।

३- रामायणं नारीप्रधानमिति प्राधान्येन श्रृङ्गाररस एवात्र प्रतिपाद्यते ।
रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० सं० १७५ ।

४- रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० सं० १७५ ।

करने वाला जो परिणाम है, तथा जिसको श्रुतियों ने 'आनन्द' नाम दिया है वही शृङ्गाररस है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस सम्प्रदाय का मूल स्रोत आदि रामायण ही दृष्टिगोचर होता है, इसलिये यह सम्प्रदाय नूतन नहीं अपितु प्रत्नतम है । यही कारण है कि इस प्रसंग में भगवान रामचन्द्र और भगवती सीता का शृङ्गाररसरञ्जित वर्णन ८ वीं शताब्दी में उत्पन्न महाकवि कुमारदास के जानकीहरण महाकाव्य में भी प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार यह सम्प्रदाय साहित्य यद्यपि संस्कृत में बहुत कम है, किन्तु हिन्दी भाषा में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है ।

इस प्रकार इस प्रसंग में उल्लेखनीय रूप से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कृष्ण भक्तों का भावनास्थल वृन्दावन शैव नामक नन्दवन है, उसी प्रकार सीताराम भक्तों के रसिक सम्प्रदाय के अनुयायियों की कृति में अयोध्यापुरी है । अथर्ववेद में भी इसका संकेत दार्शनिक चिन्तन के वर्णन से युक्त प्राप्त होता है । यथा --

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।।[2]

इस मंत्र में प्रयुक्त आठ चक्र, नौ द्वार आदि शब्दों का विस्तृत वर्णन संहिता-ग्रन्थों में है । साम्प्रदायिक विद्वान कहते हैं कि इन मंत्रों की व्याख्या से ही साकेत में रास रंग का वर्णन है । संस्कृत भाषा में सुन्दरशील स्रोत भी है । भगवान श्री रामचन्द्र के 'चारुशीलादिमाला मावरारीहायवगधारामुनगानन्द्रकला'

१- जानकीहरण - अष्टम सर्ग, श्लोक - ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६६, पृ० सं० - १७७, १७८ ।

२- अथर्ववेद संहिता - १० । २ । ३१

लक्ष्मण ' इस प्रकार आठ सखों के नाम हैं । उसी प्रकार भगवती सीता के 'श्री प्रसादसखी चन्द्रकला विमला मदनकला विश्वमोहिनी उर्मिला चंपककला' रूप और कलाओं को धारण करने के कारण आठ ही सखियां हैं । इस सम्प्रदाय के अनुयायी विशिष्टाद्वैतवादी हैं और द्वैतवादी भी हैं । कुछ विद्वानों के मत में श्री रामानन्दाचार्य के द्वारा प्रवर्तित रामावत सम्प्रदाय के अन्तर्गत यह सम्प्रदाय है ।

इस प्रकार अब तक रसिक सम्प्रदाय का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया गया, इस सम्प्रदाय का विस्तृत परिचय डा० भगवती प्रसाद सिंह के 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय तथा श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र ' 'माधव' की 'राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना' नाम की पुस्तक में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार भगवान श्री रामचन्द्र के रसिकोपासना सम्प्रदाय के ऐतिहासिक अध्ययन के अनुशीलन से यह सम्प्रदाय कृष्ण-उपासना परम्परा से पूर्णरूप से प्रभावित है ।[१] शिव संहिता में श्री रामचन्द्र का वर्णन इस प्रकार है —

> आसीनं समयोध्यायां सहस्रस्तम्भमण्डिते ।
>
> मण्डपे रत्नसंभे च जानक्या सराघवम् ।।
>
> मत्स्य: कूर्म: किरिर्नैको नारसिंहोऽप्यनेकधा ।।
>
> वैकुण्ठोऽपि हयग्रीवो हरि: केशववामनौ ।।

१- वैष्णव साधना के ऐतिहासिक क्रम परिणति के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस रससाधना की धारा विशेष रूप से श्रीकृष्णोपासना के भीतर से ही प्रवाहित हुई है ।
(रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय की भूमिका - पृ० सं० ४) ।

यत्रो नारायणो धर्मपुत्रो नरोऽपि च,
देवकीनन्दनः कृष्णो वासुदेवो बलोऽपि च ।।
वृष्णिगर्भो मधुन्मायी गोविन्दो माधवोऽपि च ।
वासुदेवोऽपरोऽनन्तः सङ्कर्षण इरापतिः
प्रद्युम्नो ह्यनिरुद्धश्च व्यूहाः सर्वेऽपि सर्वदा ।
रामं सदोपतिष्ठन्ते रामादेशव्यवस्थिताः ।।
एतान्येश्च संसेव्यो रामो नाम महेश्वरः ।
तेषामैश्वर्यदातृत्वात् तन्मूलत्वान्निरीश्वरः ।।
इन्द्रनामा स इन्द्राणां पतिः सात्वी गतिः प्रभुः ।
विष्णुः स्वयं स विष्णूनां पतिर्वेदान्तकृद्विभुः ।।
ब्रह्मा स ब्रह्मणां कर्ता प्रजापतिपतिर्गतिः ।
रुद्राणां स पती रुद्रो रुद्रकोटिनियामकः ।।
चन्द्रादित्यसहस्राणि रुद्रकोटिशतानि च ।
अवतारसहस्राणि शक्तिकोटिशतानि च ।।
ब्रह्मकोटिसहस्राणि दुर्गाकोटिशतानि च ।
महाभैरवकालादिकोटयर्बुदशतानि च ।।
गन्धर्वाणां सहस्त्रपि देवकोटिशतानि च ।
समां यस्य निषेवन्ते स श्रीराम इतीरितः ।।[१]

१- संगीतरघुनन्दन की टीका से उद्धृत - पृ० सं० २० ।

इस प्रकार यह रसिक सम्प्रदाय भावना के साधना की भूमि है । इसके बिना कोई भी मनुष्य किसी भी कार्य में सिद्धि या सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है । इसीलिये कहा भी गया है कि जिसकी जैसी भावना होती है । उसको वैसी ही सिद्धि या सफलता मिलती है । साधारण जन के लिये यह गूढ़ विषय है । अत: इस प्रसंग में पर्याप्त विवेचन प्रतिपादित किया गया ।

(ख) संगीत रघुनन्दन की विषयवस्तु --

संगीत रघुनन्दन रागकाव्य जयदेव की परम्परा में लिखा गया है । इस रागकाव्य में श्रीरामचन्द्र के रसिक उपासना के अनुसार शृङ्गाररससिक्त वर्णन वर्णित है । संगीतात्मक स्वरताल-लयबद्ध, माधुर्य से युक्त गीत, सुन्दर श्लोक तथा गद्य के द्वारा परिलक्षित संगीत-रघुनन्दन नामक यह रागकाव्य १६ सर्गों में विभक्त है । रसिक सम्प्रदाय के अनुसार इस काव्य के कथानक से ही श्रीरामचन्द्र का सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने काव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण में "रासेश्वरी हृदि मम निमिराज पुत्रीम्" तथा "श्रीरामरासरसिकं जगत्प्राणसुतं नुम:"[१], इस प्रकार के पदों के अंत में भगवती सीता को रासेश्वरी तथा रामचन्द्र के हनुमन्त को रामरासरसिक कहा है । कविवर ने इस रागकाव्य में श्रीरामचन्द्र का स्वरूप अभिप्रेत किया है, प्रस्तुत गीत में उसका उल्लेख इस प्रकार है --

नृत्यति रसिकशिरोमणि राम: ।
यस्य चरणचरणं विलोक्य परिमुञ्चति मानं काम: ।।
कुञ्चद्भृकुटिभावसंसूचकलेशचोरणचतुर: ।
सखीसमर्पितवीटी चर्वितदरचलकुञ्चितचिबुर: ।।

१- संगीतरघुनन्दन - १। २, ३ श्लोक ।

सङ्गीतकलारलिम्ना गर्वितसहितसुवर्यैरहारी ।
तरुणीरश्मिस्मितस्मितदर्शनवनितावििस्मितकारी ।।
ससखीसीतासङ्गीतेदाणसुक्तितशिर: स बाली ।
विश्वनाथनिनदेन निन्कले समदमदननिनदाली ।।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त गीत के उद्धरण से अभिप्राय है कि प्रस्तुत रामकाव्य में सर्वत्र श्री रामचन्द्र के प्रौढमात्र पवित्र चरित्र का रसिक सम्प्रदाय के अनुसार वर्णन चित्रित है । वस्तुत: स्थिति यह है कि इस सम्प्रदाय के भक्तजनों ने भगवान कृष्ण की रासलीला के समान मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की भी रासलीला की है । यही कारण है कि स्वयं कृतिकार ने भी टीका के अन्त में कहा है कि प्रस्तुत कृति रामचन्द्र की रासलीला वर्णन से युक्त है । उदाहरणस्वरूप इस प्रकार के श्लोक के द्वारा संकेतित है । यथा --

रासप्रेमचमत्कारप्रमोदाय महात्मनाम् ।
विरच्यैवाविश्वनाथेन कृता व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिका ।।[2]

प्रस्तुत रामकाव्य महाकवि जयदेव की परम्परा में प्रणीत है किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि यह भव्यकाव्य अक्षरश: अनुकरणात्मक नहीं है, क्योंकि इस काव्य में किसी भी विषय के वर्णन के लिये नियमित रूप से आठ पदों के पद नहीं दिखाई देते हैं । यहां उद्धृत गीत पाठकों के समक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है । यथा --

पश्य सखि ! जानकीकान्तम् ।[3]
सकलसुखिसारसुभिशान्तम् ।।

इस गीत में ३४ संख्यक गीत पदों का प्रयोग प्राप्त होता है । इसका दूसरा

१- संगीतरघुनन्दन - ११। १, २, ३, ४ श्लोक ।
२- संगीतरघुनन्दन - षोडश सर्ग, पृ० सं० १२५ ।
३- संगीतरघुनन्दन - १० । १

भेद यह भी है कि गीतगोविन्द काव्य १२ सर्गों से युक्त है तथा प्रस्तुत कृति १६ सर्गों में विभक्त है । इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं ।

गीतगोविन्द से भेद द्योतित करने के लिये कवि ने इस काव्य का नाम संगीतरघुनन्दन इस प्रकार का किया है । 'गीतरघुनन्दनम्' अथवा 'रामगीतम्' इस प्रकार का नामकरण नहीं किया । उनकी कृति का यह नामकरण संगीत-शास्त्र के अनुसार सर्वथा समुचित माना जाता है । क्योंकि इस रासकाव्य में भगवान रामचन्द्र की रासलीला का वर्णन करना ही कवि का मुख्य प्रयोजन था । यह तो विदित है कि रासलीला में गीत के साथ नृत्य और वाद्य की अनिवार्यता होती है । यही कारण है कि इसमें गायन, वादन और नृत्य इन तीनों का सम्पादन होने के कारण संगीतशास्त्र के नियमानुसार संगीत यह अभिधान कृति के नाम के पूर्व रखा गया है । और जहाँ केवल गानमात्र होता है वहाँ गीत इस प्रकार का प्रयोग हुआ है । इस विषय में शाङ्गर्देव ने अपने संगीत रत्नाकर ग्रन्थ के स्वराध्याय में कहा है कि -- गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ।[१]

आशय यह है कि उपर्युक्त पंक्तियों का आधार मानकर ही कवि ने इस काव्य का नाम संगीतरघुनन्दनम् रखा है । इस काव्य में गद्य का प्रयोग भी परिलक्षित होता है । गीतगोविन्द काव्य में गद्य का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है । उदाहरणस्वरूप संगीतरघुनन्दन में गद्य का प्रयोग इस प्रकार है । यथा --

'मालतीलवङ्गवल्लय: कुसुमिता: किसलयसम्भारानता: कूजन्मधुव्रत कोकिला गुञ्जत्कलङ्घिनिकारा: शीतलमन्दसुगन्धिसमीरणोल्लासिता: पादपालिङ्गनोत्सुका नितान्तकान्ताभिसरणोद्यता वनिता इव लता यत्र विलसन्ति तस्मिन् वसन्तागमे वनोपवनवाटिकासु विहरति वर्णयवधूवृन्दवलितविलास समुल्लासितमानसे मानशोकापनोदनकर्तुरि मनोनन्दन इव जनकनन्दिनीसहिते श्रीरघुनन्दन

१- संगीतरत्नाकर - प्रथमस्वरगताध्याय, श्लोक संख्या २१, पृ० सं० १३ ।

गायति युगलप्रेमपरिपूर्णौ विश्वनाथ वसन्तरागनियम् — स स नि नि
ध ध गम धध नि मास म ग रि ससनिधमनि धा प मागा इति ।[1]

इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि १६वीं शताब्दी के मध्य भाग में समुत्पन्न विभिन्न शास्त्र के प्रकाण्डपण्डित सुकवि नारायणानन्दतीर्थ यतीन्द्र ने अपनी श्री कृष्णलीलातरङ्गिणी रागकाव्य में इसी प्रकार के गद्य का भी प्रयोग किया है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ सिंह का यह संगीतरघुनन्दन रागकाव्य रसिक सम्प्रदाय में प्रचलित सीतारामरासलीला वर्णन से युक्त है । इसी प्रसंग में कवि ने रासलीला सहभागिनी सम्पूर्ण सखियों का नामोल्लेख १५ वें सर्ग में विस्तार के साथ किया है । यथा —

विहरति सीतारामौ मध्ये सखीनयनविश्राम: । ध्रुवपदम्
इह वकुले पद्मा च सेव्याऽथो सुकेशी सहजया ।
तारा वीराङ्गनुजा च कमला तथा कमलालया ।।
सखी केसरपूर्वी रम्भा मेनका मृगलोचना ।
चन्द्रावली कर्पूरगन्धा कलशा वरलोचना ।।
सोमा च हेमा वरारोहा पद्मगन्धा मालिनी ।
सुरतोत्सवा हरिणी कमलिनी रमा राधा हंसिनी ।।
चोडशसु दलेषु नृत्यति पद्महस्ता वृन्दया ।
सुप्रेयसी च मनोरमा विमला सुनयना निरत्यया ।।
अमिता सिता शुकसम्भवा हरिवल्लभा सुविशारदा ।।
पुनरुमा प्रकृतिर्महामाया वेदवातिविशारदा ।।
सत्सुपदलेषु द्वादशालीमण्डली विलसति नता ।

१- संगीतरघुनन्दन - तृतीय सर्ग, गद्य -१, पृ० सं० ३२ ।

क्षीरोदवाऽपि च भद्ररूपा भद्रदा विद्युल्लता ।।

संखवाहनशीला चारुरूपा सती हंससुगामिनी ।

वरपदमरेखा प्रमदा सुस्मिता कुङ्कुमगन्धिनी ।।

चन्द्रदले शोभना शुभदा सुस्मिता शान्ता धरा ।

सन्तोषिका सुखदा सुवर्णा क्षेमदा क्षेमा परा ।

इह चारुदेशा रुचिररूपा चारुदन्त् सुरतोत्सुका ।।

धात्री सुधीरा कमलमध्यस्थानगा रासोत्सुका: ।।

उपदले रतिरपि नतिमती कुशला तथैव च मेदिनी ।

माल्या महार्हा माधवी कामदा कामविमोहिनी ।।

लीलाकला प्रेमप्रदा चोत्कसु कर्पूराङ्गिका ।

वरसुधामुख्युज्ज्वला कनका सुरभिरपि चित्राङ्गिका ।।

शशिमुखी हंसी चारुश्रोणी चित्ररेखा शशिकला ।

विशदादिका शुभदन्तिका माधुर्यिका च वरोत्पला ।।

तदनन्तर शतसखीमण्डलमस्ति तदुपरि दशशतम् ।

अयुतं ततस्तदनन्तरं पुनरपी लक्षं सन्ततम् ।।

पुनरालिभियुतं भाति चितं कोटिरपि तदनन्तरम् ।

दशकोटिशो विलसन्ति सख्यो दिग्विदिक्षु निरन्तरम्

सव्यजनचामरकादिसकलवरोपकरणलसत्करा:

वीणामृदङ्गगोपाङ्गतोयतरङ्गवादनतत्परा:

गायन्ति गीतमनुपमं विचित्रतरेतरमोहनम् ।

सङ्गीतकं नृत्यन्ति सकला विश्वनाथविनोदनम् ।।[१]

आशय यह है कि इन सखियों में सीता की सखियों का नाम ऐतिहासिक सत्य है, विद्वान लोग इसे कवि की कल्पना ही नहीं मानते हैं। तात्पर्य यह है कि यह अक्षरशः सत्य है कि सीता की सखियां थीं।

विश्वनाथ सिंह ने अपने इस रागकाव्य में आर्या, इन्द्रवज्रा, गीति आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि कृतिकार को इस प्रकार के काव्य की रचना करने में अपूर्व सफलता मिली है।

(द) संगीतरघुनन्दन संगीत-योजना --

प्रस्तुत रागकाव्य में १६ सर्ग हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के समान प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने भी प्रत्येक सर्ग का नामकरण किया है। संगीतरघुनन्दन के रचयिता ने प्रथम सर्ग का नाम मंगलाचरण, द्वितीय सर्ग, 'मकरारासवर्णन', तृतीय सर्ग, 'वसन्तरासवर्णनं', चतुर्थ सर्ग, 'आनन्दयन्तहृदिवर्णनं', पञ्चम सर्ग कामावसन्तिआगमनं आदि सर्गों के नामकरण किये हैं। इसी प्रकार अन्य सर्गों के भी नाम हैं।

प्रस्तुत रागकाव्य में मात्रावृत्तों में रचित गीत संगीत से परिपूर्ण है। गीत में ध्रुवपद का प्रयोग हुआ है जो कि संगीतशास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है। उदाहरणस्वरूप गीत इस प्रकार है --

मिल नाथ अए। ध्रुवपदम

हा हा नयनाञ्जन। तापविभञ्जन। रमणीरञ्जन। तव विरहे।
सम्भवति कराला ज्वलनज्वाला सुमनोमाला किमु विरहे ।। १

१- संगीतरघुनन्दन १५। १ से १६ तक।

मलयाचलपवनो विषधरवदनोपरिविलगमनो दहतु कृशाम् ।

कामयमुपकारि वीजनधारी वीजनहारी भवति भृशम् ।। २

चन्द्रमुखचन्द्रचकोरी नयनै ते सततम् ।

सा सहते तव विरहमहो ! निर्दय ! किततम् ।।३

हरिचन्दनघनसारस्पर्शी विरहशिखी ।

दहति रश्मिभिस्तनुं दिनेशश्चन्द्रमिषी ।। ४

गतविग्रहवर्गा च्युतमुखवर्गाऽतिबाधकवर्गा तव प्रिया ।

न रसायनरत्या धिक्कृतभक्त्या त्वयैव लभ्या गतक्रिया ।।५

तव नामनि कर्णे भणितेऽभ्यर्णे, तारसुवर्णे पतति लता ।

मुञ्चति निःश्वासानभितव्यासाननलनिकाशानतिविकला ।।६

ससलिलकणनलिनीदलशयनं तप्तमयः ।

भवति सुधाकरकरनिकरोऽपि हि गरलमयः ।।७

तां तनुतां तनुगतां वीक्ष्य हृद्भीतम् ।

पवनस्पर्शोत्पन्नयालिभिर्निर्णीतम् ।। ८

अपनिमिषमधीरं नयनं नीरं वहति शरीरं धर्मरसम् ।

रञ्जयति को रामाऽधिरमणि रामाजनमिह कामानुगमनसम् ।।९

भक्तप्रेमाऽऽकर । दीनदयाकर । हृदयशयां स्मर मुग्धशयाम् ।

अलमधिकविरत्या त्वमिहाऽऽगत्याऽनुपरागत्या तनुहि दयाम् ।।१०

दयालुता तव सहसा हा हा केन हृता ।

तत्सामसपरिरम्भणारुचिरापि कुत्र कृता ? ।। ११

तस्मिन् विषये समरे सुखं तु पश्य मले ।।
विश्वनाथनाथाऽऽगमनं कुरु हे सुमते ! ।। [1] १२

इस प्रकार उपर्युक्त गीत की भांति अन्य गीत भी इसी प्रकार हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथसिंह देव की यह एक सफल कृति है ।

१- संगीतरघुनन्दन - द्वादश सर्ग,

(ह) श्रीश्यामरामकवि विरचित गीतपीतवसन

(अ) गीतपीतवसन - परिचय --

प्रस्तुत रागकाव्य के प्रणेता श्रीश्याम-रामकवि हैं। यह रागकाव्य भी जयदेव की गीतगोविन्द परम्परा में लिखा गया है। श्रीश्यामरामकवि के जन्मकाल और निवास स्थान के विषय में कुछ स्पष्ट रूप से सामग्री प्राप्त नहीं होती है। काव्य के अन्तिम सर्ग के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम दशरथ और माता का नाम अन्नपूर्णा था। श्लोक इस प्रकार है :--

माता यस्य धराधरेन्द्रतनयातुल्याऽन्नपूर्णा कृती,
तातो यस्य महाशयो दशरथो निष्ठावशिष्ठाऽधिकः।
राधामाधवकेलिकौशलकथां कान्तां कवीनां मुदे,
काव्यं भव्यमिदं चकार स नवं श्रीश्यामरामः कविः।[1]

(ब) विषय वस्तु --

प्रस्तुत कृति पीयूषवर्षी जयदेव की परम्परा में लिखी गयी है। कारण यह है कि श्रीश्यामराम कवि ने पीयूषवर्षि-महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द काव्य से प्रेरणा ग्रहणकर ही अपने इस राग काव्य सृजन किया है। इस काव्य में भगवान श्रीकृष्ण तथा राधा के पवित्र चरित्र का वर्णन वर्णित है। स्वरतालयबद्ध यह रागकाव्य १० सर्गों में विभक्त है। सभी सर्ग छोटे छोटे हैं, कथा संयोजन में प्रायः गीत के बाद बीच बीच में

१- गीतपीतवसन - दशमसर्ग, श्लोक १५, पृ० सं० ३६।

सरस श्लोकों की संरचना हुई है । यह रागकाव्य शृङ्गाररस प्रधान है । यही कारण है कि कृतिकार ने अपने काव्य के अन्त में स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया है ।[1] यथा --

शृङ्गारसारतमारकथासमेतं श्रीमन्मुकुन्दवरगरस्मारागानुबन्धि ।

श्रीश्यामरामचरितं मुखभूषणाय, श्रीगीतपीतवसनं सुधियां सदास्तु ।।१६

आशय यह है कि प्रस्तुत रागकाव्य में सर्वत्र शृङ्गाररस का विशेष रूप से साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है । इस काव्य में एक ओर वसन्त का वर्णन है तथा दूसरी ओर गोपीपति युवती नाचती है, उनका आलिङ्गन करती है, आदि इस प्रकार का चित्रण तथा एकान्त स्थान पर वृन्दावन विपिन में कोई गोपी मधुर मुरली बजाते हुए मुरारि के साथ रमण (विहार) करती है । इन समस्त क्रियाकलापों को देखकर राधिका अपने घर चली गयी है । यही कारण है कि वियोग में उन्हें मलयानिल भी आग के समान जलती हुई प्रतीत होती है । इस प्रकार यह ही इस काव्य का समस्त कलेवर है ।

जिस प्रकार पीयूषवर्षी जयदेव ने भी अपने काव्य के प्रारम्भ में वसन्त ऋतु का वर्णन किया है । उसी प्रकार प्रस्तुत कृति के रचयिता ने भी अपने काव्य का प्रारम्भ वसन्त के आगमन से किया है । उनके अनुसार वसन्तऋतु का मनोहारी वर्णन इस प्रकार है । यथा --

मधुरिपुरिह विहरति मधुमासे ।

माधविकासुमधुरमधुमादितमधुकरनिकरविलासे ।। ध्रुवपदम् ।

सुललितवकुलकुसुमपरागपरागितमधुकरपुञ्जे ।

कुसुमितकुन्दविदलवकुलावलिसुरभितमञ्जुनिकुञ्जे ।। १

१- गीतपीतवसन - दशमसर्ग, श्लोक १६, पृ० सं० ३६ ।

नवमलयजवनघनपरिरम्भणसुरभिपवनशुचिगन्धे ।
प्रियविरहानलविकलवधूजनगञ्जनमवलनिबन्धे । २

सरसरसालकुसुमरसतुन्दिलनवकोकिलकलरावे ।
मदनविनोदसमोदवधूजनविरचितबहुविधभावे ॥ ३

अतिनववरुणातरुणाकरुणागुरुकिंशुकलितपलाशे ।
कुसुमितकाननपुञ्जमञ्जुरण (रोञ्जनन) मकपलाशे ॥ ४

नवकुलयनयना रतिसरभसयुवजनजनितविहारे ।
मधुपपटलीपटुतरझङ्कारमुखरसहकारे ॥५

सुरचितचम्पकचयकलिकावलिकलितमदनजलदीपे ॥
वलितमनोभवधनुरनुपमपटुगुटिकायितनवनीपे ॥ ६

तरुणतमालविमलनवदलरुचितुलितनरकरिपुधामे ।
मनसिजविशिखदुनयुवजनविरचितयुवतीजनलोभे ॥ [1] ७

आशय यह है कि जयदेव की परम्परा में लिखित सभी रागकाव्यों में प्राय: वसन्त का वर्णन प्राप्त होता है । इसीलिये इस काव्य में भी वसन्त का वर्णन है । इस काव्य का वसन्त वर्णन स्वर्ण-सुगन्ध से युक्त किसके हृदय में राग नहीं उत्पन्न करता । इस प्रकार उपर्युक्त गीत में ध्रुवपद को छोड़कर सात पद ही हैं । इस काव्य में कवि ने सम्पूर्ण गीतों में सात पदों की ही संसृष्टि की है, जबकि परम्परानुसारेण आठ पदों की संसृष्टि समीचीन मानी गयी है । महाकवि जयदेव के प्रत्येक गीत आठ-आठ पदों की संज्ञा से युक्त है, यही कारण है कि उनके गीतों के लिये अष्टपदी यह नामकरण समीचीन था । प्रस्तुत कृति

१- गीतपीतवसन - प्रथम सर्ग, पृ० सं० ३, ४ ।

में आठ पदों की संज्ञा के बोधक गीत बहुत कम हैं, इस काव्य में सात पदों के गीत की ही प्रधानता का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। गीतपीतवसन इस रागकाव्य में सहृदय के हृदय को हरने वाले, काव्य-माधुर्य की सृष्टि करने वाले तथा पाठकों के हृदय को सरल एवं तरल करने वाले बहुत गीत हैं।

प्रस्तुत कृति के प्रणेता श्रीश्यामराम कवि ने भी अन्य रागकाव्यों के समान काव्य के आरम्भ में अपनी रचना का प्रयोजन उद्घोषित किया है।[1] यथा --

हरिस्मरणसादरं यदि मनो मनोजन्मन:,
कलासु विमलासु चेत् किल कुतूहलं वर्त्तते।
तदानुपदमुल्लसन्मधुरिमैकधुर्या बुधा:।
सुधारससमा रसै: शृणुत मामकीं भारतीम् ।।१

आशय यह है कि कमनीय कला के प्रति कुतूहलशाली बुधापाठकगण भगवान के स्मरण के साथ काव्याध्ययन के भी आनन्द का अनुभव करते हैं।

I ख I भाषा-शैली --

प्रस्तुत कृति गीतपीतवसन इस रागकाव्य की भाषा कोमलता, सरलता और प्रसादगुण से मण्डित सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाली है। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है। यथा --

माधव! बहु विलपति तव राधा।
मदनविशिख भयविरचितबाधा ।ध्रुवपदम्
चटुलपटीरसुरभिमतिधीरं।
कलयति विषमिव मलयसमीरम् ।।[2]

१- गीतपीतवसन - प्रथम सर्ग, श्लोक १, पृ० सं० १।
२- गीतपीतवसन - चतुर्थ सर्ग, पृ० सं० १६, १७।

अर्थात माधव के वियोग में कामबाण के द्वारा अत्यधिक दुःखी राधा भ्रमित होती हुई विलाप करती है। ऐसी स्थिति में शीतल सुगन्ध से युक्त मलयानिल भी उन्हें विष के समान प्रतीत होती है।

आशय यह है कि उपर्युक्त गीत में कवि ने राधा की विरह जनित भावना को प्रकट करने के लिये अलंकृत भाषा का प्रयोग नहीं किया है, अपितु विरहिणी राधा के उस प्रकार के मन की भावना की अभिव्यक्ति में प्रसादगुण-पूर्ण भाषा ही प्रयुक्त हुई है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के गुण से युक्त भाषा को पढ़कर पाठकगण भावविह्वल हो जाया करते हैं।

कवि ने अपने इस काव्य में समासपूर्ण पदों का प्रयोग नहीं किया है। क्योंकि समास की बहुलता से संवलित काव्य अधम काव्य की कोटि में माना जाता है। उदाहरण इस प्रकार है।[1]

किं करवाणि विधुरा ।
विरमति मधुरजनी मधुरा ।। ध्रुवपदम्
दहति विरहदहनो मम देहम् ।
सखि ! कलयामि विपिनमिव गेहम् ।। १
वहति मलयमरुदहह !! निकामम् ।
बोधयतीव शयितामपि कामम् ।। २
कलति वरुणादिशि शशधरबिम्बम् ।
हरिरधुना करोति विलम्बन ।। ३
व्यथयति मामयमपि हिमधामा ।
रमयति हरिमिह काऽपि सकामा ।। ४

१- गीतपीतवसन - सप्तमसर्ग, पृ० सं० २५, २६ ।

स्मरति न मामपि वन वनमाली ।
जीवति न खलु कुसुमशरशाली ।। ५

कमपि विहितमति गुरु किमु पापम् ।
प्रियदर्शनमपि येन दुरापम् ।। ६

किमिह वृथा विलपामि सखेदम् ।
जीवनमपि वरमिह न ममेदम् ।। ७

आशय यह है कि उपर्युक्त गीत में कवि ने समासपूर्ण पदों का प्रयोग नहीं किया है, यही कारण है कि इस प्रकार के गीत को पढ़ते ही भाव जगत में विचरणशील पाठकगण भावविह्वल हो जाते हैं । यही कविप्रतिभा की चरम प्रतिमा है, तथा गीत की गरिमा और महिमा है । कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे गीतों में सहृदयों के हृदयतल को तरंगित करने की क्षमता ध्वनित होती है । प्रस्तुत कृति में कवि का वसन्तवर्णन कोमलपदावली से युक्त, ललितमधुरपदबन्धनिबद्ध गीत के द्वारा रचित रम्य एवं भव्य है ।

कविवर ने अपने इस काव्य में रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि अलंकारों का समुचित प्रयोग किया है ।

प्रस्तुत काव्य में कृतिकार ने शब्दशास्त्र के वैदुष्य के परिचायक क्रिया विलसित श्लोक समूहों का समुचित प्रयोग किया है । जो इस प्रकार है[1] --

समीर इह मालय: किल कृतान्तदूतायते,
विधुश्च गरलायते मनसिज: कृतान्तायते ।
तदत्र विरहव्यथाव्यसनसन्निपातेऽद्य सा,
रथाङ्गधर ! सर्वथा कुरु तथा यथा प्राणिति ।। २

१- गीतपीतवसन - चतुर्थ सर्ग, श्लोक २, पृ० सं० १६ ।

इसी सन्दर्भ में रूपक अलंकार से गर्भित एक अन्य श्लोक इस प्रकार है[1] —

तद्भ्रूयुग्मं कठिनधनुषी मार्गणास्तत्कटाक्षा
उत्कंनासा वलति नलिकं केशपाशोऽपि पाशः ।
अस्त्राण्येतान्यहह । मदनाऽऽयासकारीणि तस्याः,
शङ्के पङ्केरुहनयनया निर्जितोऽमुन्मनोभूः ।। ६

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत रागकाव्य में भाव और कलापक्ष अत्यन्त समृद्ध है ।

। द । छन्द-योजना —

गीतपीतवसन रागकाव्य में कथा संयोजन करते समय गीतों के बीच-बीच में विभिन्न वृत्तों में निर्मित, काव्य सौन्दर्य से युक्त सरस श्लोक भी है । श्लोकों में कविवर ने संस्कृतकाव्य जगत में प्रसिद्ध मात्रिक और वर्णिक वृत्तों का प्रयोग किया है । इस काव्य में अप्रसिद्ध वृत्तों में एक स्थल पर नर्दटक वृत्त का प्रयोग प्राप्त होता है । यही कारण है कि इस प्रसंग में ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृतिकार सरस तथा मधुरतर गीत के निर्माण में तथा विभिन्न वृत्तों में श्लोकों का प्रणयन करने में निपुण थे । उदाहरण इस प्रकार है[2] --

वलति विमलरङ्ग कुरङ्गयामलाङ्कः शुचि श्री -
विंधकुमुदवृन्दाऽऽनन्दनोऽमन्दमिन्दुः ।

१- गीतपीतवसन - तृतीय सर्ग, श्लोक ६, पृ० सं० १४ ।

२- गीतपीतवसन - सप्तम सर्ग, पृष्ठ सं० २४, २५ ।

हरिहरिदकलाया: केशवेशस्समन्ता-

द्रथित इव दाम्नाऽमन्दकुन्दावलीनाम् ।।२

स्फुरति मुखराऽऽशासारसास्यालिकेऽसौ,

तिलक इव कलावान् कल्पकश्चन्दनेन ।

वसितमृगमिषेणास्यत्र मध्येऽतिशुद्धे,

मृदुलमृगमदाना बिन्दवोऽमी वसन्ति ।। ३

कलति कलमिवाशासुन्दरी कुन्दवृन्द -

प्रतिरचितमिवेन्दुः कन्दुकं सुन्दराभी : ।

यदिह मृगमिषेणापीडमापीय मन्दं,

निवसति मकरन्दं वृन्दमिन्दिन्दिराणाम् ।। ४

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त उदाहरण में कवि ने कठिन उत्प्रेक्षा गर्भित कल्पना से कलित वृत्तजात का प्रयोग किया है ।

प्रस्तुत कृति के रचयिता ने अपने इस रागकाव्य में मन्दाक्रान्ता, अनुष्टुप, आर्या, वसन्ततिलका नर्दटकम आदि अनेक छन्दों का समुचित रूप से प्रयोग किया है ।

अत: यह कहा जा सकता है कि श्यामराम कवि की यह सफल कृति है, और एक दिन यह भी जयदेव के 'गीतगोविन्द' के समान पण्डित समाज में आदर और सम्मान का पात्र हो जायेगी ।

[छ] गीतपीतवसन संगीतयोजना —

प्रस्तुत रागकाव्य में १० सर्ग हैं ।

जयदेव के गीतगोविन्द के समान प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने भी प्रत्येक सर्ग का नामकरण किया है। गीतपीतवसन रागकाव्य के रचयिता ने प्रथम सर्ग का नाम रमितरमाधव, द्वितीय सर्ग, 'रसाधिकराधिका', तृतीय सर्ग, 'विधुर-मधुसूदन', आदि सर्गों के नामकरण किये हैं।

प्रस्तुत रागकाव्य में मात्रा वृत्तों में रचित गीत संगीत से परिपूर्ण है। प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट रागों, तालों में की गयी है। प्रत्येक गीत में आठ ही पद हो ऐसा इस काव्य में अनिवार्य नहीं है। किसी किसी गीत में सात पद भी हैं। इस राग काव्य में गीत में ध्रुवपद का भी प्रयोग हुआ है, जो कि संगीतशास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है। गीतपीतवसन रागकाव्य में भैरवी, वसन्त, गुर्जरी, देशाख आदि रागों का प्रयोग हुआ है।[1] उदाहरणस्वरूप गीत इस प्रकार है --

मधुरिपुरिह विहरति मधुमासे।

माधविकासुमधुरमधुयाचितमधुकरनिकरविलासे ।। ध्रुवपदम् ।

मुकुलितवञ्जुलकुसुमपरागपराजितमधुकरपुञ्जे ।

कुसुमितकुन्दविकलवकुलावलिसुरभितमञ्जुनिकुञ्जे ।।१

नवमलयजवनघनपरिरम्भणसुरभिपवनशुचिगन्धे ।

प्रियविरहानलविकलवधूजनग जनमदननिबन्धे । २

सरसरसालकुसुमरसतुन्दिलनवकोकिलकलरावे ।

मदनविनोदसमोदवधूजनविरचितबहुविधभावे ।।३

ललितनवतरुणतरुणाकरुणागुरुकिंशुककलितपलाशे ।

१- गीतपीतवसन - प्रथमसर्ग, पृ० सं० ३, ४ ।

कुसुमितकाननपुञ्जमञ्जुराग (रञ्जितवन) वकमलाशे ।। ४

नवकुञ्जयनयनारतिसरमसयुवजनजनितविहारे ।

मधमधुपपटलीपटलरभङ्कारमुलरसहकारे ।। ५

सुरचितचम्पकचयकलिकावलिकलितमदनकलिदीपे ।

वलितकनोभधनुरनुपमपटुगुटिकायितनवनीपे ।। ६

तरुणतमालविमलनवदलरुचितुलितनाकरिपुशोभे ।

मनसिजविशिखधुनयुवजनविरचितयुवतीजनलोभे ।। ७

इस प्रकार उपर्युक्त गीत वसन्त राग में निबद्ध है । इसी प्रकार गुर्जरी, देशाख आदि रागों में भी अन्य गीत निबद्ध है ।

इस प्रकार अन्त में यह कह सकते हैं कि श्री श्यामराम कवि की यह एक सफल कृति मानी जा सकती है ।

-0-

उपसंहार

उपसंहार

संस्कृत के रागकाव्यों का काव्यत्व सर्वांग उच्चकोटि का है। इन रागकाव्यों के सन्दर्भ में संगीत का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि भारतीय संगीत का उद्गम स्थान वैदिककाल में माना जाता है तथा इसी काल में वेदों की भी रचना हुई है, जिसमें मानव धर्म के आध्यात्मिक एवं भौतिक स्वरूप का वर्णन किया गया और मानव जीवन को सर्वोत्कृष्ट बनाने के लिये सत्यं शिवं सुन्दरं का अनुसन्धान किया गया है। वैदिक ऋषियों को संगीत का अच्छा ज्ञान होने के कारण ही इनके द्वारा मन्त्रों का संगीतमय पाठ भी किया जाता था। इस प्रकार मन्त्रों के सस्वर पाठ करने में जिन स्वरों का प्रयोग हुआ वे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं। इस प्रकार वेदकाल में प्रतिपादित संगीत ने समयानुसार संगीत के शास्त्रीय रूप को ग्रहण किया है। इस प्रसंग में पंडित शार्ङ्गदेव कृत संगीतरत्नाकर और जयदेव कृत गीतगोविन्द से यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार आजकल राग गायन प्रचलित है, उसी प्रकार उस समय प्रबन्ध गायन प्रचलित था, यही कारण है कि उस काल को प्रबन्ध काल भी कहते थे। नवीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक भारत में सङ्गीत की अच्छी उन्नति हुई। उस समय रियासतों में सङ्गीत को आश्रय और संरक्षण मिला जिससे सङ्गीत का प्रचार और विकास हुआ। यही कारण है कि १२वीं शताब्दी में जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की है। इस रागकाव्य में स्वरलिपि रहित संस्कृत में लिखे गये प्रबन्धों और गीतों का संग्रह है। यही नहीं गीतगोविन्द के गीतों की कोमलकान्तपदावली संगीत की विविध राग-रागिनियों

में निबद्ध है। इस प्रकार भाव कल्पना एवं रसमाधुरी की दृष्टि से संस्कृत रागकाव्य विश्व की परम श्रेष्ठ निधि है।

संस्कृत वाङ्मय में रागकाव्य यह विधा गीतकाव्यों की परम्परा से परिपुष्ट होकर ही प्रचलित हुयी। अभिनवगुप्त ने भरतनाट्यशास्त्र की टीका "अभिनवभारती" में गीत शब्द की व्युत्पत्ति गीयते इति गीतं काव्यं लिखकर गीत और काव्य में कोई अन्तर नहीं माना है, यही नहीं प्रकारान्तर से उन्होंने गीत शब्द को काव्य का पर्यायवाची भी स्वीकार किया है तथा इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अपनी इसी टीका में गीतविधा में लिखित काव्यों की संज्ञा राग-काव्य दी है। यही कारण है कि गीतविधा में लिखित काव्यों के लिये शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द "रागकाव्य" समीचीन है।

संस्कृत के रागकाव्यों में साहित्य एवं संगीत का अपूर्व समन्वय परिलक्षित होता है। इस प्रकार रागकाव्यों में प्रतिपादित साहित्य और संगीत का मञ्जुल समन्वय रस-संचार को उत्पन्न करता है। क्योंकि काव्य में रस की निष्पत्ति शब्द अर्थ और भावयुक्त छन्दों से होती है और संगीत में रस का सञ्चरण सप्त स्वर एवं अंग सञ्चालन एवं विविध तालों के माध्यम से होता है। यही नहीं काव्य और संगीत का यह आदि सम्बन्ध हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में भी परिलक्षित होता है। यही कारण है कि हिन्दी के मध्यकालीन कवि, सूर, तुलसी तथा मीरा आदि के भक्तिकाव्य में भी साहित्य एवं संगीत का अपूर्व समन्वय हुआ है। इन्हीं कारणों से उनकी यह रचनाएं सामान्य

योजन से उनका शास्त्रीय संगीत तथा भाषा-साहित्य को समृद्ध करने लगी है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में सूर, तुलसी एवं मीरा का संगीतात्मक संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

हिन्दी भक्ति साहित्य में 'संगीत' साधना का एक अंग था। अष्टछाप के कवि सूरदास, कुम्भनदास, नन्ददास, परमानन्ददास, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास, गोविन्ददास, एवं कृष्णदास केवल कवि ही नहीं बल्कि संगीतज्ञ एवं कीर्तनकार भी थे। सूरदास ने संगीत के गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों पक्षों को अपने काव्य में स्थान दिया है, यही नहीं संगीत से सम्बन्धित अनेक रागों, तालों का प्रयोग भी किया है। इसी प्रकार तुलसी का भी युग संगीत का स्वर्ण युग माना जाता है। तुलसी के समय में उत्तरी शास्त्रीय संगीत पद्धति का उन्मेष हुआ था और अनेक प्रसिद्ध शास्त्रीय संगीतज्ञों जैसे - तानसेन, बैजू बावरा आदि की कीर्ति भी फैल रही थी। ऐसी स्थिति में गोस्वामी जी पर साहित्यिक प्रभावों के अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत का प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक ही था। यही नहीं गोस्वामी जी ने अपनी गीतकृतियों में २१ राग-रागिनियों का सन्निवेश किया है, यथा आसावरी, केदारा, बिलावल ललित आदि। अत: तुलसी के भावानुकूल रागयोजना, तालयुक्त शब्दयोजना तथा माधुर्यगुणयुक्त वर्ण-विधान से सिद्ध होता है कि वे संगीतज्ञ थे, यही कारण है कि संगीतशास्त्र के निकष पर उनके ग्रन्थ पुनीत: खरे उतरते हैं।

इसी प्रकार मध्यकाल में मीरा का भी स्थान अद्वितीय है । मीरा के गीतों में गेयत्व अधिक है । यही नहीं मीरा के पदों में प्रेम तथा विरह इन दोनों भावों का स्पष्ट गुम्फन दृग्गोचर होता है । इस प्रकार हिन्दी के भक्ति-कालीन कवियों के संक्षिप्त विवेचन से ज्ञात हो जाता है कि सूर जैसा भाव, मीरा जैसी प्रेम और तुलसी जैसी श्रद्धा रखकर ही भक्ति संगीत प्रस्तुत किया जाय तो वास्तव में मनुष्य का जीवन सार्थक हो जायेगा ।

हिन्दी कवियों ने अपने काव्यों में नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेदों का उल्लेख किया है । हिन्दी कवियों की भांति संस्कृत कवियों ने भी शृङ्गार के संयोग एवं वियोग आदि की विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखकर आठ प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख रागकाव्यों में किया है । जैसे - वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका आदि । इसी प्रकार नायक के दक्षिण, धृष्ट आदि भेदों का भी उल्लेख इसमें प्राप्त होता है । अतः यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के नायक और नायिकाओं के भेदों का आधार ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है । आचार्य भरतमुनि के द्वारा प्रस्तुत किये गये वर्गीकरण को आधार मानकर अनेक परवर्ती आचार्यों ने भी भेदों-उपभेदों में अपनी स्वतन्त्र कल्पनाएं की हैं । इस प्रकार के ग्रन्थों में धनञ्जय का "दशरूपक", रामचन्द्र, गुणचन्द्र का "नाट्यदर्पण", रुद्रट का "काव्यालंकार", भोज का "शृङ्गारप्रकाश" तथा विश्वनाथ का "साहित्यदर्पण" उल्लेखनीय है । इसके

अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के जिन शास्त्रीय ग्रन्थों में किञ्चित स्वतन्त्र विवेचन प्राप्त होता है उनमें भानुमिश्र की 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी', रूपगोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि', अकबरशाह की 'शृङ्गारमञ्जरी', चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु', भिखारीदास का 'रस सारांश', तथा केशवदास की 'रसिकप्रिया' का नाम लिया जा सकता है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध 'संस्कृत रागकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन' में सम्पूर्ण कथा को गेयपदों में प्रस्तुत किया गया है तथा इनके गीतों में रागों तालों आदि का समुचित रूप से प्रयोग हुआ है, यही कारण है कि इनके गीत गाये जाते हैं। इनके गीतों में ध्रुवपद का भी प्रयोग हुआ है। इस ध्रुवपद को 'टेक' भी कहते हैं। गीतों में ध्रुवपद यानि टेक वाली पंक्तियों को बार-बार दुहराये जाने के कारण अभिव्यञ्जनीय भाव में स्थिरता आती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के रागकाव्यों में शृङ्गाररस की प्रधानता का होना एक अन्य विशेषता है। यही कारण है कि जयदेव का गीतगोविन्द जिसे संस्कृत वाङ्मय का प्रमुख रागकाव्य माना गया है, इसमें भी शृङ्गार रस की प्रधानता है, यही नहीं गीतगोविन्द रागकाव्य परक ग्रन्थ पर आधारित अन्य रागकाव्यों की भी रचना हुयी है, इनके कथानकों में भी शृंगाररस की प्रधानता है तथा अन्य रस उसके पोषक स्वरूप हैं। इस प्रकार संस्कृत के राग-काव्यों में शृंगाररस को जो प्रधानता दी गयी है, इसका कारण यह है कि

शृङ्गाररस सहृदयों के एक विशिष्ट वर्ग का हृदयावर्जक है । अत: यह कहा जा सकता है कि गीतगोविन्द संस्कृत साहित्य के काव्य माधुर्य का रसावतार है । ध्वनि नूपुरों पर नर्तन करती गीतगोविन्द की कोमलकान्त पदावली, उत्कल, बंग, गुर्जर, मणिपुर, केरल प्रभृति विभिन्न प्रदेशों की साहित्य कला एवं संस्कृत की स्पृहणीय परम्परा की अतुल सम्पदा बन गयी है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के रागकाव्यों में साहित्य और संगीत का अपूर्व समन्वय दृष्टिगोचर होता है, यही कारण है कि यह रागकाव्य एक ओर तो कवियों और साहित्यिकों के गले का हार बन गयी तो दूसरी ओर संगीतज्ञों की वीणा के द्वारा मुखरित हो उठी है ।

-0-

सहायक ग्रन्थ सूची

जयदेव कृत गीतगोविन्द के संस्करण --

१- गीतगोविन्द - श्रीकुम्भनृपतिप्रणीतरसिकप्रिया और शंकरमिश्र रचित रसमञ्जरी टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, षष्ठ संस्करण, सन् १९२३ ई० ।

२- गीतगोविन्दकाव्यम्- नारायणकृतटीकासमेत, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास 'लक्ष्मीवेंकटेश्वर' छापाखाना कल्याण मुंबई, चतुर्थावृत्ति सम्वत् १९६८ शके १८३३ ।

३- गीतगोविन्दमहाकाव्यम्- संजीवनी, पदद्योतनिका, जयन्ती, टीका सहित, डा० आर्येन्द्र शर्मा, संस्कृत परिषद उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद, प्रथमावृत्ति १९६९ ।

४- गीतगोविन्द - लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृत विद्यामन्दिर अहमदाबाद से प्रकाशित ।

५- गीतगोविन्द - नागार्जुन का हिन्दी अनुवाद, किताब महल ५६ ए, जीरोरोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९५५ ।

६- गीतगोविन्दकाव्यम्- पण्डित श्री केदारनाथ शर्मा विरचित 'इन्दु' नामक हिन्दी भाषा टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय बनारस सिटी, द्वितीय संस्करण, सन् १९४८ ।

७- गीतगोविन्द - सचित्र हिन्दी रूपान्तरकार विनयमोहन शर्मा, रामलाल-पुरी आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट दिल्ली, सन् १९५५ ।

८- गीतगोविन्दादर्श - रायचन्द्र नागर कृत गीतगोविन्द संस्कृत का भाषा प्रतिबिम्ब, नवलकिशोर प्रेस, बुकडिपो हजरतगंज लखनऊ, सन् १९२६ ।

संस्कृत ग्रन्थ —

१- अमरकोष - पंडित हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७० ।

२- अमरूक शतक - श्री प्रद्युम्न पाण्डेय हिन्दी व्याख्याकार, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६६ ।

३- अथर्वेद संहिता - श्रीमती परोपकारिणी सभा, वैदिक यंत्रालय अजमेर नगर से प्रकाशित, षष्ठ आवृत्ति संवत् २००१ ।

४- अनर्घराघव - श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

५- आनन्दरामायण - पण्डित रामतेजपाण्डे कृत 'ज्योत्सना अभिधा' भाषा टीका सहित, पंडित पुस्तकालय काशी, प्रथमावृत्ति १९५८ ।

६- अग्निपुराण - पण्डित श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान ख्वाजाकुतुब (वेदनगर) बरेली उत्तरप्रदेश, प्रथम संस्करण १९६८ ।

७- अभिज्ञानशाकुन्तल- यास्कनवकिशोरकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस सिटी, सन् १९३५ ।

८- अभिधानरत्नमाला - (हलायुध) (सम्पादक आफ्रट) मोतीलाल बनारसीदास, पंजाब संस्कृत बुकडिपो, लाहौर, १९२८ ।

९- अभिनयदर्पण (नन्दिकेश्वर) - देवदत्तशास्त्री, जननी कार्यालय इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९५६ ।

१०- अभिनव भारती इन नाट्यशास्त्र - सम्पादक कवि रामचन्द्र, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, दूसरा संस्करण १९५६, ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा ।

११- उत्तररामचरित (भवभूति)-- डा० लाल रमायदुपाल सिंह, श्री शारदा पुस्तक भवन, ११ युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद, १९६५ ।

१२- ऋग्वेद - विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध संस्थान साधु आश्रम, होशियारपुर, प्रथम संस्करण १९६५ ।

१३- ऋग्वेदसंहिता - वैदिक संशोधन मण्डल तिलकमेमोरियल पूना, १९४६ ।

१४- काव्यादर्श(दण्डी) - श्रीरामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८ ।

१५- काव्यालंकार(भामह) - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना १९६२ ।

१६- काव्यमीमांसा (राजशेखर)- डा० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

१७- कामसूत्र (वात्स्यायन) - श्रीदेवदत्त शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९६४ ।

१८- काव्यप्रकाश (मम्मट) - सम्पादक डा० नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी १९६० ।

१९- काव्यानुशासन - श्री हेमचन्द्र विरचित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९०१ ।

२०- कृष्णगीत - (सोमनाथ) सम्पादक डा० प्रभात शास्त्री, देवभाषा प्रकाशन दारागंज, प्रयाग सन् १९८१ ।

२१- गीतगिरीश - (रामभट्ट) सम्पादक डा० प्रभातशास्त्री, देवभाषा प्रकाशन दारागंज प्रयाग, प्रथम संस्करण २०२७ ।

२२- गीतपीतवसन - (श्रीश्यामरामकवि) सम्पादक डा० प्रभातशास्त्री, देवभाषा प्रकाशन दारागंज प्रयाग, प्रथम संस्करण संवत् २०३१ ।

२३- गीतगौरीपति - (भानुदत्त) सम्पादक डा० प्रभातशास्त्री, साहित्यकार संघ, नया बैरहना, इलाहाबाद १९८१ ।

२४- चन्द्रालोकसुधा - जयदेव विरचित, सम्पादक गुरुप्रसाद शास्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर प्रथमावृत्ति १९६१ ।

२५- छान्दोग्यउपनिषद - पंडित श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान ख्वाजाकुतुब वेदनगर बरेली उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९७२ ।

२६- जानकीहरण - (कुमारदास) अनुवादक व्रजमोहन व्यास, सम्पादक - श्रीकृष्णदास, वीरेन्द्रनाथ घोष, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद ।

२७- तालपरिचय - लेखक गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, संगीत सदन प्रकाश साउथ मलाका इलाहाबाद, अष्टम आवृत्ति १९७८ ।

२८- दशरूपक - श्री धनञ्जय विरचित, सम्पादक डा० श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ चतुर्थ संस्करण १९७९ ।

२६- ध्वन्यालोक - (आनन्दवर्धनाचार्य विरचित) व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६५ ।

३०- नाट्यशास्त्र - लेखक श्री भरतमुनि, टीकाकार अभिनवगुप्त,सम्पादक एम० रामकृष्ण कवि, ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा १९३४ ।

३१- नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, प्रकाशक ओरियण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा सन् १९५६ ।

३२- नाट्यशास्त्र - लेखक रघुवंश हिन्दी विभाग,इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ,वाराणसी पटना ।

३३- नारदीया शिक्षा - श्री सत्यव्रत सामश्री सम्पादक, १९-१, घोष लाइन सत्य प्रेस कलकत्ता सन् १८८० ।

३४- पाश्चात्य साहित्यशास्त्र- डा० जगदीशप्रसाद मिश्र, प्रकाशक, अशोक प्रकाशन नई सड़क दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७४ ।

३५- बृहदारण्यकोपनिषद् - शाङ्करभाष्य सहित, प्रकाशक मोतीलाल जालान गीताप्रेस, गोरखपुर ।

३६- भर्तृहरिशतक - प्रकाशक किशनलाल द्वारकाप्रसाद बम्बई भूषण छापाखाना (प्रेस) मथुरा १९४० ।

३७- भातखण्डे संगीतशास्त्र - श्री विष्णु नारायण भातखण्डे, प्रकाशक संगीत कार्यालय,हाथरस (उत्तर प्रदेश) १९५१ ।

३८- भुशुण्डिरामायण - सम्पादक डा० भगवती प्रसाद सिंह, प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७५ ।

३९- महाभारत - सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, टीकाकार श्री रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय "राम", प्रकाशक घनश्यामदास जालान गीताप्रेस गोरखपुर तृतीय संस्करण १९५५ ।

४०- महिम्नस्तोत्र - पुष्पदन्त विरचित, रामचन्द्र मारवाड़ी अग्रवाल ठिकाना लाला गुटीराम सेहमल तम्बाकू कटरा देहली १९७९ ।

४१- मेघदूत - कालिदासप्रणीत, सम्पादक श्री रामचन्द्र चौधरी, भारत बुक डिपो भागलपुर पटना, प्रथम संस्करण १९६४ ।

४२- रघुवंश - कालिदास प्रणीत, अनुवादक श्री हरदयालु सिंह (श्री हरिनाथ), भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, प्रथमावृत्ति १९७३ ।

४३- रसमञ्जरी - महाकवि भानुदत्त मिश्र विरचित्, व्याख्याकार श्री बद्रनाथ शर्मा प्रकाशक श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवन, बनारस, द्वितीय संस्करण १९५१ ।

४४- रसतरङ्गिणी - भानुदत्त कृत, अनुवादक तथा अभिनव व्याख्याकार आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी, श्री द्वारकादास गुजराती हिन्दी साहित्य कुटीर, हाथी गली, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०२५ ।

४५- रामगीतगोविन्द - जयदेव विरचित, टीकाकार हनुमान त्रिपाठी, सम्पादक - डा० प्रभातशास्त्री देवभाषा प्रकाशन दारागंज, प्रयाग, प्रथम संस्करण सन् १९७४ ।

४६- लघुसिद्धान्त कौमुदी - व्याख्याकार और सम्पादक श्री धरानन्दशास्त्री, सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ७ द्वारा प्रकाशित, अष्टम संस्करण १९७७ ।

४७- वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी - श्री वासुदेव दीक्षित कृत बालमनोरमा सहिता "जयकृष्णदास हरिदास गुप्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस सिटी" सन् १९४१ ।

४८- वाल्मीकि रामायण - रामकृत तिलक व्याख्या सहित, निर्णय सागर प्रेस बाम्बे, चतुर्थ संस्करण १९३० ।

४९- वृत्तरत्नाकर - भट्टनारायण भट्टीय व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पंचम संस्करण, सम्वत् २०३३ ।

५०- बृहद्देशी - मतंगमुनि प्रणीत, सम्पादक के० साम्बशिव शास्त्री राजकीय मुद्रणयंत्रालय त्रावंकोर ।

५१- वाक्यपदीय - भर्तृहरि प्रणीत, प्रकाशक मुंशीराम मनोहरलाल नयी दिल्ली १९७० ।

५२- शब्दकल्पद्रुमकोश - स्यारराजा राधाकान्तदेव बाहादुर विरचित प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी १९६१ ।

५३- साहित्यदर्पण - श्री विश्वनाथ कविराज कृत श्री शालग्राम शास्त्री विरचित हिन्दी व्याख्या सहित, प्रकाशक, मोतीलाल बनारसीदास संस्कृत हिन्दी पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता बनारस, दिल्ली, पटना, १९५६।

५४- संगीतरत्नाकर - शाङ्र्गदेव कृत टीकाकार चतुरकल्लिनाथ, प्रकाशक अडियार लाइब्रेरी १९४३ ।

५५- संगीत दर्पण - दामोदर पंडित विरचित, प्रकाशक प्रभुलाल गर्ग संगीत कार्यालय हाथरस यू० पी०, प्रथम संस्करण १९५० ।

५६- संगीत पारिजात - श्री अहोबल पंडित प्रणीत, प्रकाशक प्रभुलाल गर्ग (सम्पादक संगीत) संगीत कार्यालय हाथरस, प्रथमावृत्ति १९४१ ।

५७- संगीत मकरन्द - नारद विरचित, सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा १९२० ।

५८- संगीत रघुनन्दन - श्री विश्वनाथ सिंहजूदेव कृत व्यङ्ग्यार्थचंद्रिका व्याख्या सहित, सम्पादक डा० प्रभात शास्त्री, कौशाम्बी प्रकाशन दारागंज, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९८४ ।

५९- संस्कृत नाटक - मूल लेखक ए० बी० कीथ, डा० उदयभानु सिंह का हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास बंगलो रोड, जवाहर नगर दिल्ली, नेपाली खपरा, वाराणसी (उ० प्र०) बाकीपुर, पटना (बिहार) प्रथम रूपान्तर १९६५ ।

९०- संस्कृत साहित्य का इतिहास - लेखक बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक शारदा संस्थान रवीन्द्रपुरी दुर्गाकुण्ड, वाराणसी १९७३ ।

९१- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा - लेखक स्व० पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा शान्तिकुमार नानूराम व्यास, प्रकाशक साहित्य निकेतन, कानपुर १९६७ ।

९२- संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गैरोला प्रणीत, अनुवादक डा० बहादुर चन्द्र छाबड़ा, प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६० ।

९३- प्रोत रत्नावली - शङ्कराचार्य विरचित, प्रकाशक गीताप्रेस गोरखपुर बीसवां संस्करण २०२८ ।

९४- शृङ्गारशतक - भर्तृहरि, प्रकाशिका श्रीमती चमेली देवी हरिदास एण्ड कम्पनी मथुरा चतुर्थ संस्करण १९४३ ।

९५- शृङ्गारप्रकाश - महाराजा श्री भोजदेव विरचित, प्रकाशक गोष्ठ रामानुज ज्योतिषिक संस्थापक, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ प्रकटन विश्वसंस्था मैसूर सन् १९६३ ।

९६- श्रीमद्भागवत - प्रकाशक सेठोपनामक श्री केसरीदास प्रबन्ध द्वारा लक्ष्मणपुर में स्थित नवल किशोर यन्त्रालय में मुद्रित, सम्वत् १९८२ ।

९७- प्रसन्नराघव - श्री जयदेवकवि विरचित, टीकाकार पण्डित श्रीरामचन्द्र मिश्र "शर्मा" प्रकाशक मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स कचौड़ी गली, बनारस सिटी, प्रथम संस्करण सन् १९४७ ।

जर्नल्स (दैनिकं) -

१- न्यू केटलागस केटलागारम - वाल्यूम ६, यूनिवर्सिटी आफ मद्रास सन् १९७१ ।

२- विश्वेश्वरानन्द इन्डोलोजिकल जनरल - प्रोफेसर के० वी० शर्मा, सम्पादक - एस० भास्कर नय्यर, प्रकाशक - पंजाब यूनिवर्सिटी होशियारपुर सन् १९८० ।

३- केटलागस केटलागोरम् - 'थ्रेहर आफेक्ट' फ्रान्ज स्टीनियारवारलग गम्ब विसबेडन, सन् १९६२ ।

पत्रिका -

१- सन्दर्भ भारती - गीतगोविन्द संगोष्ठी विशेषांक, सम्पादिका डा० श्रीमती कपिला वात्स्यायन, भारती भाषा परिषद, ३६ ए शेक्सपियर सरणी, कलकत्ता ।

English Books :-

1. History of Sanskrit Poetics by P.V. Kane, Sundar Lal Jain Motilal Banarsidass, Bungalow Road, Jawahar Nagar Delhi-6, Third revised edition, 1961.

2. A History of Sanskrit Literature by A.Berriedale Keith. Oxford University Press, Ely House, London W.I First edition, 1920.

3. History of Sanskrit Poetics by Sushil Kumar DE. Firma K.L. Mukhopadhyay 6/1 A, Bancharam Akrur Lane, Calcutta 1, Second edition 1960.

4. A History of Sanskrit Literature by Authur A. Macdonell, Motilal Banarsidas Bungalow Road Jawahar Nagar Delhi 1962.

5. Encyclopaedia Britannica, Volume 14. Chicago London. Toronto Allrights reserved Printed in great Britain, 1768.

6. Bhoja's Srngara Prakasa by Dr. V. Raghavan, Punarvsu 7 Sri Krishnapuram street, Madras 14 India - 1963.

7. Padyamrta - Tarangini by Haribhaskara, Edited by Dr. Jatindra Bimal chaudhuri, Printed by J.C.Sarkhel at the Calcutta. Oriental Press Ltd. a Parcharan Ghose lane, Calcutta and Prabhas Chandra Ghosh at sree Madhab Press, 31, Kailas Bose street, Calcutta.

—

हिन्दी पुस्तकें —

१- आधुनिक कवि (सुमित्रानन्दन पंत), प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तृतीय संस्करण संवत् २००३ ।

२- हिन्दी साहित्य कोश - सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, द्वितीय संस्करण सम्वत् २०२० ।

३- हिन्दी मेघदूत विमर्श - सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, प्रकाशक लीडर प्रेस प्रयाग सन् १९२१ ।

४- रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना - श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, सन् १९५७ ।

५- रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय - डा० भगवती प्रसाद सिंह, प्रकाशक अवध साहित्य मन्दिर बलरामपुर गोंडा उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २०१४ ।

६- रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव - डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव, प्रकाशक, हिन्दी परिषद विश्वविद्यालय प्रयाग, प्रथम संस्करण १९५७ ।

७- श्रीरामचरितमानस - गोस्वामी तुलसीदासविरचित, टीकाकार हनुमान प्रसाद पोद्दार, प्रकाशक - मोतीलाल जालान गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत २०२७ ।